१—अयोध्यासिंह उपाध्याय

इनका जन्म वैशाख कृष्ण ३ संवत् १९२२ विक्रमाब्द (सन्१८६५ ई०) में हुआ। जन्म-स्थान आजमगढ़ है। काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय में हिन्दी के अध्यापक थे। सिख-संप्रदाय के एक साधु बाबा सुमेरसिंह की संगति से हिन्दी-कविता की ओर इनकी अभिरुचि हुई। कविता में आपका उपनाम "हरिऔध" है। इनकी रचनाओं में 'प्रियप्रवास' 'चौपदे' और 'रस-कलस' मुख्य हैं। 'प्रिय-प्रवास' पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से १२००) बारह सौ रुपये का मंगला-प्रसाद-पारितोषिक दिया गया था। यह खड़ी बोली का पहला और श्रेष्ठ महाकाव्य है। संस्कृत के वर्ण-वृत्त छंदों और संस्कृत-गर्भित शब्दों में श्रीकृष्ण का वृंदावन त्यागकर मथुरा जाने और फिर उद्धव के आने तक की कथा इसमें कही गयी है। वर्णन में अतिमानवता का आरोप नहीं हुआ है—राधा और कृष्ण के आदर्श मानवीय चरित्र ही चित्रित हुए हैं! कृष्ण की अलौकिक कथाओं को भी मानवसुलभ--कार्य के रूप में दिखाने की कोशिश की गयी है। राधा का चरित्र भी प्रेम, त्याग और सेवा-भाव से पूर्ण हुआ है जो इस काव्य की विशेषता है।

इसकी भाषा शुद्ध खड़ी बोली नहीं कही जा सकती। कहीं-कहीं व्रजभाषा के प्रत्यय तथा प्रयोग भी आ गये हैं। संस्कृत शब्दों की बहुलता के कारण कहीं-कहीं तो श्लोक-सा ही बन

गया है। फिर भी काव्य में प्रवाह है, रोचकता है और कौशल की छटा है। प्रकृति वर्णन सुन्दर है।

'चौपदे' मुहावरों के कोष हैं। इन चौपदों से पता चलता है कि 'हरिऔध' जी का भाषा पर कितना बड़ा अधिकार है। आप सरल-से-सरल और कठिन-से-कठिन भाषा लिखने में सिद्ध-हस्त हैं। चौपदों के दो संग्रह छपे हैं—'चोखे-चौपदे' और 'चुभते चौपदे'।

'रसकलस' में नवरस और नायिका-भेद का वर्णन है और उदाहरण में 'हरिऔध' जी ने स्व-रचित व्रजभाषा की कविताएँ दी हैं। आप व्रजभाषा के भी सुकवि हैं, पर आपकी ख्याति हुई है 'प्रिय-प्रवास' से ही।

व्रजभूमि की संध्या

(हरिऔध जी के 'प्रिय-प्रवास' नामक काव्य के यह प्रारंभ का भाग है। इस पुस्तक में कवि की शैली संस्कृतमय रही है। कृष्ण जब गोकुल में यशोदा के यहां रहते थे, गायें चराया करते थे— तब का यह प्रसंग है। संध्या होनेवाली है। प्रकृति की सुन्दरता बढ़ रही है। कृष्ण अपनी गायें लेकर लौट रहे हैं। उनकी बांसुरी की ध्वनि सुनकर गोकुल के स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध सब जंगल की ओर रवाना हो रहे हैं। गोपों की तन्मयता, उनका कृष्ण के प्रति प्रेम तथा कृष्ण और प्रकृति के सौन्दर्य का कवि ने सुन्दर वर्णन किया है।)

दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर थी अब राजती,
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥

विपिन बीच विहंगम-वृंद का
कल निनाद विवर्धित हो रहा।
ध्वनिमयी विविधा विहगावली
उड़ रही नभ-मंडल मध्य थी॥

अधिक और हुई नभ-लालिमा,
दश दिशा अनुरंजित हो गई।
सकल पादप-पुंज हरीतिमा,
अरुणिमा विनिमज्जित-सी हुई॥

झलकने पुलिनों पर भी लगी,
गगन के तल की यह लालिमा।
सरित औ' सर के जल में पड़ी,
अरुणता अति ही रमणीय थी॥

अचल के शिखरों पर जा चढ़ी,
किरण पादप-शीश-विहारिणी।
तरणि-बिंब तिरोहित हो चला,
गगन-मंडल मध्य शनैः शनैः॥

ध्वनिमयी करके गिरि-कंदरा,
कलित-कानन केलि-निकुंज को।
मुरलि एक बजी इस काल ही,
तरणिजा-तट-राजित कुंज में॥

क्वणित मंजु विषाण हुए कई,
रणित शृंग हुए बहु साथ ही।

फिर समाहित प्रांतर भाग में,
सुन पड़ा स्वर धावित-धेनु का ॥

कियत ही क्षण में वन-वीथिका,
विविध धेनु-विभूषित हो गई ।
धवल, धूसर वत्स-समूह भी,
समुद था जिनके सँग सोहता ॥

जब हुई समवेत शनैः शनैः
सहित गो-गण मंडलि ग्वाल की ।
तब चली व्रज-भूषण को लिये,
वह अलंकृत गोकुल ग्राम को ॥

गगन के तल गोरज छा गई,
दश दिशा बहु शब्दमयी हुई ।
विशद गोकुल के प्रतिगेह में
बह चला वर स्रोत विनोद का ॥

दिन समस्त समाकुल-से रहे,
सकल मानव गोकुल ग्राम के ।
अब दिनांत विलोकत ही बढ़ी,
व्रज - विभूषण - दर्शन - लालसा ॥

सुन पड़ा स्वर ज्यों कल वेणु का,
सकल ग्राम समुत्सुक हो उठा।
हृदय-यंत्र निनादित हो गया,
तुरत ही अनियंत्रित भाव से॥

वयवती, युवती, बहु बालिका,
सकल बालक, वृद्ध, वयस्क भी।
विवश-से निकले निज गेह से,
स्वदृग का दुख-मोचन के लिए॥

इधर गोकुल से जनता कढ़ी,
उमगती अति आनंद में पगी।
उधर आ पहुँची बल-वीर की,
विपुल धेनु-विमंडित-मंडली॥

ककुभ-शोभित गोरज बीच से,
निकलते ब्रज-वल्लभ यों लसे।
कदन ज्यों करके दिशि-कालिमा
विलसता नभ में नलिनीश है॥

अतसि - पुष्प अलंकृत - कारिणी,
सुछवि नील सरोरुह-वर्द्धिनी।

नवल सुन्दर श्याम-शरीर की,
सजल नीरद-सी कल कांति थी ॥

विलसता कटि में पट-पीत था,
रुचिर वस्त्र-विभूषित गात्र था ।
लस रही उर में वनमाल थी,
कल दुकूल-अलंकृत कंध था ।

मकर - केतन के कलकेतु - से,
लसित थे वर कुंडल कान में ।
घिर रही जिनके सब ओर थी,
विविध भावमयी अलकावली ॥

मुकुट था शिर का शिखि-पुच्छ का,
अति मनोहर मंडित माधुरी ।
असित रत्न - समान सुरंजिता,
सतत थी जिसकी वर चंद्रिका ॥

विशद उज्ज्वल उन्नत भाल में,
विलसती कल केसर-खौर थी ।
असित पंकज के दल में लसे,
रज-सुरंजित पीत सरोज ज्यों ॥

मधुरिमामय था मृदु बोलना,
अमिय-सिंचित-सी मुसकान थी।
समद थी जन-मानस मोहती,
कमल-लोचन की कमनीयता ॥

सबल जानु-विलंबित बाहु थी,
अति सुपुष्ट समुन्नत वक्ष था।
वय-किशोर-कला लसितांग था,
मुख प्रफुल्लित पद्म-समान था॥

सरस राग-समूह सहेलिका,
सहचरी सब मोहन मंत्र की।
रसिकता - जननी, कल-नादिनी,
मुरलि थी कर में मधु-वर्षिणी॥

छलकती मुख की छवि-पुंजता,
छिटकती छिति पै तन की छटा।
बगरती वर-दीप्ति दिगंत में,
छितिज की छनदा-कर कांति लौं॥

मुदित गोकुल की जन-मंडली,
जब व्रजाधिप सम्मुख जा पड़ी।

निरखने मुख की छवि यों लगी,
तृषित चातक ज्यों घन की घटा ॥

पलक लोचन की पड़ती न थी,
हिल नहीं सकता तन-लोम था ।
छवि-रता बहु कामिनि यों बनीं,
गठित पाहन-पुत्तलिका यथा ॥

उछलते शिशु थे अति हर्ष से,
युवक थे रस की निधि लूटते ।
जरठ को फल लोचन का मिला,
निरखके सुखमा सुख-मूल की ॥

बहु विनोदित थी व्रज-बालिका,
तरुणियाँ सब थीं तृण तोड़तीं ।
बलि गयीं बहुबार वयोवती,
लख अनूपमता व्रजचंद की ॥

आँख का आँसू

(हरिऔधजी के चौपदे से यह लिया गया है। हरएक पद में दो-एक मुहावरे हैं। भाषा सरल और समझ में आनेवाली है। भाव भी उसके लायक़ ही अनूठे, पर सरल हैं। आँख में आंसू देखकर कवि की कल्पना उड़ती है। वह नाना तरह के भावों में पड़ जाता है और उनका वर्णन करता है।)

आँख का आँसू ढलकता देखकर,
जी तड़प करके हमारा रह गया।
क्या गया मोती किसी का है बिखर!
या हुआ पैदा रतन कोई नया? ॥

ओस की बूँदें कमल से हैं कढ़ी,
या उगलती बूँद हैं दो मछलियाँ।
या अनूठी गोलियाँ चाँदी मढ़ी,
खेलती हैं खंजनों की लड़कियाँ ॥

पा जिगर पर जो फफोला था पड़ा,
फूट करके वह अचानक बह गया।
हाय! था अरमान जो इतना बड़ा,
आज वह कुछ बूँद बनकर बह गया॥

प्यास थी इस आँख को जिसकी बनी,
वह नहीं इसको सका कोई पिला।
प्यास जिससे हो गयी है सौगुनी—
वाह, क्या अच्छा इसे पानी मिला॥

आँख के आँसू! समझ लो बात यह,
आन पर अपनी रहो मत यों अड़े।
क्यों कोई देगा तुम्हें दिल में जगह,
जब कि दिल में से निकल तुम यों पड़े॥

झाँकता-फिरता है कोइ क्यों कुँआ?
हैं फँसे इस रोग में छोटे-बड़े।
है इसी दिल मे तो वह पैदा हुआ,
क्यों न आँसू का असर दिल पर पड़े॥

आँख के परदों से छनकर जो बहे,
मैल थोड़ा भी रहा जिसमें नहीं।

बूँद जिसकी आँख टपकाती रहे,
दिल-जलों को चाहिये पानी वही ॥

बूँद गिरते देखकर यों मत कहो,
आँख तेरी गड़ गई या लड़ गई ।
जो समझते हो नहीं, तो चुप रहो,
किरकिरी इस आँख में है पड़ गई ॥

वह कलेजा हो कई टुकड़े अभी,
नाम सुनकर जो पिघल जाता नहीं ।
फूट जाए आँख वह जिसमें कभी
प्रेम का आँसू उमड़ आता नहीं ॥

बू बनावट की तनिक जिनमें न हो,
चाह की छींटें नहीं जिन पर पड़ीं ।
प्रेम के उन आँसुओं से हे प्रभो !
यह हमारी आँख तो भीगी नहीं ॥

२—मैथिलीशरण गुप्त

संवत् १९४३ वि. (सन् १८८६ ई.) में गुप्तजी चिरगांव (झाँसी) में प्रकट हुए। इनके पिताजी भी कविता-प्रेमी थे। इनके छोटे भाई सियारामशरणजी भी सुकवि हैं। मैथिलीशरणजी खड़ी बोली के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। आपकी रचनाओं में आधुनिक युग प्रतिबिंबित हुआ है। भारतवर्ष में नव-युग की साधना जिस क्रम से शुरू हुई है, गुप्तजी की रचनाएँ उसकी आरसी हैं। उत्तर भारत के हिन्दी-प्रान्तों में जो नव-चेतना जगी, उसमें गुप्तजी के काव्यों का भी विशेष भाग रहा है। आपकी 'भारत-भारती' ने हज़ारों व्याख्यान-दाताओं का काम किया है।

आपकी रचनाओं में 'भारत-भारती,' 'जयद्रथ-वध,' 'पंचवटी,' 'साकेत,' 'यशोधरा,' 'द्वापर' आदि श्रेष्ठ मानी जाती हैं। 'पलासी का युद्ध,' 'मेघनाद-वध'' विरहिणी-व्रजांगना' आदि बँगला से अनुवादित हुए हैं। वंगीय कवि मधुसूदनकृत 'मेघनादवध' का आपने ऐसा अच्छा उल्था किया है कि उसमें मौलिकता की सुगंध आ गयी है।

हाँ, आपकी सुकीर्ति का केतु है 'साकेत'। इसमें पूरी 'रामायण' तो नहीं है, पर है, 'रामचरित' ही। विशेषता

यह है कि काव्य-जगत की उपेक्षिता ऊर्मिला का चरित्र इसमें कवि की सहानुभूति से चमक उठा है। कैकेयी का चरित्र भी बड़ा सुन्दर हुआ है। 'साकेत' का नवम सर्ग सर्वोत्तम माना जाता है।

गुप्तजी ने खड़ी बोली को चमका दिया। हिन्दी की काव्य-सरिता की धारा ही पलट दी। जिस तरह हिन्दी के गद्य-साहित्य में प्रेमचन्द्जी ने क्रांति मचा दी, उसी तरह पद्य-साहित्य में गुप्तजी ने किया। प्रेमचन्द और मैथिलीशरण खड़ी बोली के चंद्र-सूर्य हैं।

गुप्तजी की 'झंकार' में छायावाद और रहस्यवाद की भी झलक है।

प्रमीला की युद्ध-सज्जा

—★—

(‘मेघनादवध’ नामक काव्य बंगला में माइकेल मधुसूदनदत्त ने लिखा है। उसी का अनुवाद गुप्तजी ने किया है। बंगला में इस काव्य का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। इसने मधुसूदन को अमर बना दिया है। अनुवाद भी मूल से घटकर नहीं है।

कथा रामायण की है। लंका में राम-रावण युद्ध हो रहा है। क़रीब-क़रीब सब लोग मारे गये हैं। तब रावण ख़ुद तैयार होता है। परंतु, मेघनाद यह समाचार सुनकर युद्ध के लिए जाना चाहता है। उस समय वह लंका-पुरी के बाहर प्रमीला के उद्यान-वन में विहार कर रहा था। जाते समय प्रमीला उसे करुण नेत्रों से देखती है; तो भी वह शीघ्र लौट आने का वचन देकर निकल पड़ता है। मगर वैसा होता नहीं है। उसे लौटने में देर होती है। प्रमीला आशंका से आतुर होकर रात में ही लंका-प्रवेश के लिए चल पड़ती है। उसीका वर्णन यहाँ पर दिया गया है।)

चुनकर फूल उस कुंज में, विषाद से,
दीर्घ श्वास छोड़कर, वासंती सहेली से,
बोली यों प्रमीला सती—“ तोड़ लिये फूल तो,
माला भी बना ली सखी, किंतु कहाँ पाऊँगी ?

पूज्य पद-युग्म वे कि चाहती हूँ पूजना;
पुष्पांजलि देकर जिन्हें मैं भक्ति-भाव से?
बाँधा मृग-राज को न जाने आज किसने?
आओ सखि, हम सब लंकापुर को चलें।"

बोली तब वासंती कि—"कैसे आज लंका में
तुम घुस पाओगी? अलंघ्य, जल-राशि-सी,
राघव की सेना उसे घेरे सब ओर है।
लक्ष-लक्ष रक्षोरिपु घूमते हैं, हाथों में
अस्त्र लिये, दंड-पाणि दंड-धर से वहाँ।"

क्रुद्ध हुई प्रमदा प्रमीला दैत्य-नंदिनी,
"क्या कहा सहेली? जब गिरि-गृह छोड़ के
सरिता सवेग जाती सागर की ओर है,
शक्ति किसकी है तब रोके गति उसकी?
मैं हूँ दैत्य-बाला और रक्षोवंश की वधू;
रावण ससुर मेरे, इन्द्रजित स्वामी हैं;
डरती हूँ मैं क्या सखि, राघव भिखारी को?
लंका में प्रविष्ट हूँगी आज भुज-बल से,
कैसे नर-रत्न मुझे रोकते हैं, देखूँगी।"

गूँज उठा दुंदुभि-निनाद घन-नाद-सा,
रण मद-मत्त हुआ वामा-दल निकला,
ढालों को उछाल, तलवारों को निकालके,
और दिव्य धनुषों को टंकारित करके।
करके उजेला उठी झक-झक झार-सी,
धक-धक कांचनीय कंचुकच्छटा-घटा!
मंदुरा में हींसे हय कान खड़े करके,
नूपुर-निनाद सुन और ध्वनि कांची की,
डमरू-निनाद सुन कालफणी नाचे ज्यों
वारी में गरजे गज, घोर-घन-घोर ज्यों
दूर शैल-श्रृंगों पर, वन में, गुहाओं में,
जाग उठी रंग से प्रतिध्वनि तुरंत ही
निद्रा तज, चारों ओर कोलाहल छा गया।

तेजस्विनी प्रमदा प्रमीला सजी रोष से,
लज्जा-भय छोड़। कवरी पर किरीट की
छिटकी छटा यों अहा! श्याम घटा पर ज्यों
इंद्रचाप! भाल पर अंजन की रेखा यों—
भैरवी के भाल पर मानों नेत्ररंजिनी
चंद्रकला! उच्च कुच कसके कवच से,

सुमुखी सुलोचना ने कृशकटि कस ली—
रत्नों से खचित रम्य स्वर्ण-सरासन से।
पीठ पर ढाल डुली, रवि की परिधि-सी,
आँखें झुलसाकर, निषंग-संग ढंग से।
गुरु उरु देश पर (वर्तुल जो था अहा!
रंभा-वन शोभा-सम) झन-झन करके
खनका सु-खड्ग खर, स्वर्ण-कोष उसका
झल-मल झूल उठा; सोहा शूल कर में
जग-मग होने लगे आभरण अंगों में!
सज्जित हुई यों दैत्य-बाला वीर-सज्जा से,
हैमवती मानों महिषासुर को मारने
जा रही हो, किंवा उस शुंभ या निशुंभ को,
सत्तामयी शूरमदमत्ता, महारण में!

कादंबिनी अंबर में नाद करती है ज्यों,
बोली त्यों नितंबिनी गभीर धीर वाणी से,
सखियों से,—"सुन लो, हे दानवियो, लंका में
शत्रुनाशी इंद्रजित बंदी बने आज हैं।
जानती नहीं मैं, प्राणनाथ भूल दासी को
विलमे वहाँ क्यों? मैं उन्हीं के पास जाऊँगी।

पुर में प्रवेश मैं करूँगी भुज-बल से
विकट कटक काट, जीत रघुवीर को;
वीर वनिताओ! सुनो, मेरा यही प्रण है;
अन्यथा मरूँगी रण-मध्य -- जो हो भाग्य में!
दैत्य-कुल संभवा हैं हम सब दानवी;
दैत्य-कुल की है विधि—शत्रु-वध करना,
किंवा शत्रु-शोणित में डूब जाना रण में!
मधु अधरों में, विष रखती हैं आँखों में
हम; बल है क्या नहीं इन भुजनालों में?
देखें, चलो, राघव की वीरता समर में।

देखूँगी जरा मैं वह रूप जिसे देखके
मोही बुआ सूर्पणखा पंचवटी-वन में,
देखूँगी सुमित्रा-पुत्र लक्ष्मण की शूरता,
बांधूँगी विभीषण को—रक्षःकुलांगार को!
अरि-दल दलूँगी ज्यों दलती है करिणी
नल-वन! आओ, तुम बिजली समान हो,
बिजली-सी टूट पड़ें वैरियों के बीच में॥"

उर्मिला का आह्लाद

(गुप्तजी की रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ स्थान 'साकेत' महाकाव्य को दिया जा रहा है। वह है भी उसके उपयुक्त ही। इसमें रामायण की ही कथा है—पर दूसरे ढंग से। वाल्मीकि या अन्य रामकथा लिखनेवालों ने लक्ष्मण की पत्नी उर्मिला का नाम तो लिया है—पर उसके बारे में कुछ विशेष नहीं बताया है। रवीन्द्रनाथ से भी यह उपेक्षा नहीं सही गयी है।

मैथिलीशरणजी ने इस काव्य में उर्मिला को ही प्रधानता देकर कवियों का यह कलंक धोया है।

यह कविता उसी 'साकेत' के प्रथम सर्ग का अंश है। राम का राज-तिलक होनेवाला है। उसके कुछ घंटे पहले का यह वर्णन है। नव-दंपति लक्ष्मण और उर्मिला की बातचीत पढ़ते ही बनती है। यह दृश्य दिखाकर कवि पाठकों के हृदय में 'उर्मिला' के प्रति स्थायी जगह बनाकर आगे बढ़ता है।)

अरुण पट पहने हुए आह्लाद में,
कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में?
प्रकट-मूर्तिमती उषा ही तो नहीं;
कांति की किरणें उजेला कर रहीं?

कनक-लतिका भी कमल-सी कोमला,
धन्य है उस कल्प-शिल्पी की कला!
झलकता आता अभी तारुण्य है,
आ गुराई से मिला आरुण्य है!

लोल कुंडल मंडलाकृति गोल हैं,
घन-पटल-से केश, कांत-कपोल हैं!
देखती है जब जिधर यह सुन्दरी,
दमकती दामिनी-सी द्युति-भरी।

स्वर्ग का यह सुमन धरती पर खिला,
नाम है इसका उचित ही "उर्मिला"!
शील-सौरभ की तरंगें आरही,
दिव्य-भाव भवाब्धि में हैं जा रही।

सौध-सिंह-द्वार पर अब भी वही,
बाँसुरी रस-रागिनी में बज रही।
अनुकरण करता उसीका कीर है,
पंजरस्थित जो सुरम्य शरीर है॥

उर्मिला ने कीर-सम्मुख दृष्टि की,
या वहाँ दो खंजनों की सृष्टि की!
मौन होकर कीर तब विस्मित हुआ,
रह गया वह देखता-सा स्थित हुआ!

प्रेम से उस प्रेयसी ने तब कहा—
"रे सुभाषी, बोल, चुप क्यों हो रहा?
पार्श्व से सौमित्र आ पहुँचे तभी,
और बोले—"लो, बता दूँ मैं अभी।

नाक का मोती अधर की कांति से,
बीज दाड़िम का समझकर भ्रांति से,
देखकर सहसा हुआ शुक मौन है,
सोचता है, अन्य शुक यह कौन है?"

यों वचन कहकर सहास्य विनोद से,
मुग्ध हो सौमित्र मन के मोद से।
पद्मिनी के पास मत्त-मराल से,
हो गये आकर खड़े स्थिर चाल से॥

चारु-चित्रित भित्तियाँ भी वे बड़ी,
देखती ही रह गयीं मानो खड़ी।
प्रीति से आवेग मानों आ मिला,
और हार्दिक हास आँखों में खिला॥

मुस्कुराकर अमृत बरसाती हुई,
रसिकता में सुरस सरसाती हुई,
उर्मिला बोली "अजी, तुम जग गये !
स्वप्न-निधि से नयन कब से लग गये ?"

"मोहिनी ने मंत्र पढ़ जब से छुआ,
जागरण रुचिकर तुम्हें जब से हुआ !"
"जागरण है स्वप्न से अच्छा कहीं।"
"प्रेम में कुछ भी बुरा होता नहीं।"

"प्रेम की यह रुचि विचित्र सराहिए,
योग्यता क्या कुछ न होनी चाहिए ?"
"धन्य जो इस योग्यता के पास हूँ;
किन्तु मैं भी तो तुम्हारा दास हूँ।"

" दास बनने का बहाना किसलिए ?
क्या मुझे दासी कहाना, इसलिए ?
देव होकर तुम सदा मेरे रहो,
और देवी ही मुझे रक्खो, अहो ! "

" जन्म-भूमि-ममत्व कृपया छोड़कर,
चारु-चिंतामणि-कला में होड़कर,
कल्प-वल्ली-सी तुम्हीं चलती हुई !
बाँटती हो दिव्य-फल फलती हुई ! "

" खोजती हैं किंतु आश्रय-मात्र हम,
चाहती हैं एक तुम-सा पात्र हम,
आंतरिक सुख-दुःख हम जिसमें धरें,
और निजभव-भार यों हलका करें।

तदपि तुम—यह कीर क्या कहने चला ?
कह अरे, क्या चाहिए तुमको भला ?"
" जनक-पुर की राज-कुंज-विहारिका,
एक सुकुमारी सलौनी सारिका।"

देख निज शिक्षा सफल लक्ष्मण हँसे,
उर्मिला के नेत्र खंजन-से फँसे।
"तोड़ना होगा धनुष उसके लिए,"
"तोड़ डाला है उसे प्रभु ने प्रिये!

सुतनु, टूटे का भला क्या तोड़ना,
कीर का है काम दाड़िम फोड़ना।
होड़ दाँतों की तुम्हारे जो करे,
जन्म मिथिला या अयोध्या में धरे!"

ललित ग्रीवा-भंग दिखलाकर अहा!
उर्मिला ने लक्ष कर प्रिय को कहा—
"और भी तुमने किया कुछ है कभी?
या कि सुग्गे ही पढ़ाए हैं अभी?"

हार जाते पति कभी, पत्नी कभी,
किंतु वे होते अधिक हर्षित तभी।
प्रेमियों का प्रेम गीतागीत है,
हार में जिसमें परस्पर जीत है।

———

उर्मिला का विरह-गान

(यह भी 'साकेत' के नवम सर्ग का एक गीत है। लक्ष्मण वन में हैं। उर्मिला विरह में अपने दिन रो रोकर काट रही है। नवम सर्ग साकेत की जान है। इसमें कवि की प्रतिभा खुलकर खेली है।)

सखे, जाओ तुम हँसकर भूल,
रहूँ मैं सुध करके रोती।

तुम्हारे हँसने में हैं फूल,
हमारे रोने में मोती!

मानती हूँ तुम मेरे साध्य,
अहर्निश एक मात्र आराध्य,
साधिका मैं भी किंतु अबाध्य,
जागती होऊँ, या सोती।

तुम्हारे हँसने में हैं फूल,
हमारे रोने में मोती!

सफल हो सहज तुम्हारा त्याग,
नहीं निष्फल मेरा अनुराग,
सिद्धि है स्वयं साधना-भाग,
सुधा क्या, क्षुधा न जो होती !
तुम्हारे हँसने में हैं फूल, हमारे रोने में मोती !
काल की रुके न चाहे चाल,
मिलन से बड़ा विरह का काल,
वहाँ लय, यहाँ प्रलय सुविशाल !
दृष्टि में दर्शनार्थ धोती !
तुम्हारे हँसने में हैं फूल, हमारे रोने में मोती !

शत्रुघ्न का राजद्रोह

(यह भी 'साकेत, से ही लिया गया है। राम वन जा चुके हैं, और जब भरत का राजा होना निश्चित-सा हो गया तब शत्रुघ्न से यह देखा न गया। ये शत्रुघ्न के ही वाक्य हैं—पर, आज की परिस्थितियों की ओर भी कैसा सुन्दर संकेत है ?)

"राज को यदि हम बना लें भोग,
तो बनेगा वह प्रजा का रोग।
फिर कहूँ मैं क्यों न उठकर ओह !
आज मेरा धर्म राज-द्रोह।
विजय में बल और गौरव-सिद्धि,
क्षत्रियों के धर्म-धन की वृद्धि,
राज्य में दायित्व का ही भार,
सब प्रजा का वह व्यवस्थागार।
वह प्रलोभन हो किसी के हेतु,
तो उचित है क्रांति का ही केतु,
दूर हो ममता, विषमता, मोह, आज मेरा धर्म राज-द्रोह !
त्याग से भी कठिन जिसकी प्राप्ति,
स्वार्थ की यदि हो उसी में व्याप्ति।

छोड़ दूँ तो क्यों न मैं भी छोह ?
आज मेरा धर्म राज-द्रोह !
दो अभीप्सित दंड मुझको अंब,
न्याय ही शत्रुघ्न का अवलंब ।
मैं तुम्हारा राज्य-शासन-भार,
कर नहीं सकता कभी स्वीकार ।
मानते थे सब जिसे निजशक्ति,
बन गयी अब राजभक्ति विरक्ति ।
हा ! अराजक भाव जो था पाप,
कर दिया है पुण्य तुमने आप ।
राज-पद ही क्यों न अब हट जाय ?
लोभ-मद का मूल ही कट जाय ;
कर सके कोई न दर्प न दंभ,
सब जगत में हो नया आरंभ ।
विगत हों नर-पति, रहें नर मात्र,
और जो जिस कार्य के हों पात्र—
वे रहें उसपर समान नियुक्त,
सब जिएँ ज्यों एक ही कुल-भुक्त !"

मानिनी यशोधरा

(गुप्तजी का एक और खण्ड-काव्य प्रकाशित हुआ है—'यशोधरा' नाम से। 'यशोधरा' महात्मा बुद्ध की पत्नी थी। बुद्ध के घर छोड़कर जाने से कथा प्रारंभ हुई है और पुनः ज्ञान प्राप्त कर लौट आने पर समाप्त। पर कवि बुद्ध के पीछे-पीछे नहीं गया है। वह विरह-मग्ना यशोधरा और बालक राहुल के साथ ही उनके वियोग में हाथ बँटा रहा है। 'गुप्त' जी को वियोग-वर्णन प्रिय है। और सचमुच विरह-वर्णन में वे अपना हृदय निचोड़कर रख देते है। साकेत का नवम सर्ग और यशोधरा इसके सुन्दर उदाहरण हैं।

यह पद्य उसी पुस्तक से लिया गया है। महात्मा बुद्ध तपस्या पूरी करके लौट आये हैं। उसी राजधानी में हैं। माता-पिता सब लोग उनके दर्शन को आगे बढ़ कर गये हैं। पर, यशोधरा नहीं गयी है। सारा जीवन उन्हीं के वास्ते रोयी है—पर अभी उसका स्त्रीत्व जाग उठा है। वह मान कर बैठी है। वे जहाँ उसे छोड़ गये थे—वह वहाँ से आगे क्यों जाय? वे अगर उसका उद्धार करना चाहते हैं तो यहीं आयेंगे; दासी तो यहीं रहेगी। अन्त में बुद्ध वहीं आते हैं। बुद्ध के आने के पहले वह अधीर मन को समझाती है।)

रे मन आज परीक्षा तेरी।

विनती करती हूँ मैं तुझसे,
बात न बिगड़े मेरी।

अब तक जो तेरा निग्रह था
बस अभाव के कारण वह था।
लोभ न था जब लाभ न यह था;

सुन अब स्वागत मेरी!
रे मन, आज परीक्षा तेरी!

दो पग आगे ही वह धन है,
अवलम्बित जिस पर जीवन है।
पर क्या पथ पाता यह जन है?

मैं हूँ और अँधेरी।
रे मन आज परीक्षा तेरी।

यदि वे चल आये हैं इतना,
तो दो पद उनको है कितना?
क्या भारी वह, मुझको जितना?

पीठ उन्होंने फेरी।
रे मन आज परीक्षा तेरी।

सब अपना सौभाग्य मनावें
दरस-परस, निःश्रेयस पावें।
उद्धारक चाहें तो आवें,

रहे यहीं यह चेरी।
रे मन आज परीक्षा तेरी!

४—जयशंकर 'प्रसाद'

जन्म-संवत् १९४६ वि० (सन् १८८९ ई०), जन्म-स्थान काशी। आपको बचपन से ही कविता करने का शौक हो गया। आपकी शिक्षा भी घर में ही मिली। घर का भार भी आप पर जल्द आ गया। आपका कारबार बड़ा था। सब काम संभालते हुए भी आपने साहित्य की जो सेवा की वह अद्भुत है।

आपकी प्रतिभा चतुर्मुखी थी। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, चंपू—सभी क्षेत्र में आपने सुन्दर परिश्रम किया था। आपके नाटक हिन्दी साहित्य-की ख़ास चीज़ है। आपको बौद्ध-काल से गहरी सहानुभूति थी।

चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु, विशाख, जनमेजय का नाग-यज्ञ—आदि आपके सुन्दर नाटक हैं। कंकाल, तितली,—उपन्यास ; और आँसू, लहर, कामायनी—आदि काव्य-पुस्तकें।

हीरे की कनियों की तरह आपके 'आँसू' में सुन्दर और गहरे भावों की लड़ियाँ सजाई गयी हैं। 'आँसू' प्रेम, रूप, वियोग, विकलता, धैर्य—आदि भावों के गहरे वर्णन से चमक रहा है। ऐसी रचना हिन्दी में अभी बहुत कम हुई है। भाव-युग (छाया-वाद) के, हिन्दी में, आप अग्रदूत थे।

'लहर' में भी भावों की वही लहर उमड़ पड़ी है।

'कामायनी' एक प्रबन्ध काव्य है। 'मनु' की 'स्मृति' हिन्दुओं के धार्मिक जीवन में एक खास स्थान रखती है। उसी स्मृति-कार 'मनु' की कहानी लेकर यह काव्य रचा गया है। लेकिन कथात्मक होते हुए भी यह काव्य अधिकांश में भावात्मक हो गया है। कथा का अंश बहुत छोटा है, भावों का वर्णन बहुत ज्यादा। 'प्रसाद की भावना कल्पना के पंखों पर चढ़कर कितना ऊँचा उठ सकती है, 'कामायनी' इसका नमूना है। यह खड़ी बोली का शृंगार है।

'प्रसाद' जी की भाषा भावों में डूबी हुई है।

हिन्दी साहित्याकाश से यह चमकता हुआ नक्षत्र सन् १९३७ में सदा के लिए टूट गया।

नारी

(यह कविता 'कामायनी' के छठे सर्ग (लज्जा) से चुनी गयी है। श्रद्धा (कामायनी) मनु को अपना सब कुछ भेंट करने जा रही है। तब नारी की अंतरंग-सखी की तरह लज्जा उसके पास आकर कुछ सोचने-समझने का उपदेश देती है। लज्जा का परिचय पाकर वह बोल उठती है। फिर लज्जा उसका उत्तर भी देती है।)

"यह आज समझ तो पायी हूँ
मैं दुर्बलता में नारी हूँ;
अवयव की सुन्दर कोमलता
लेकर मैं सबसे हारी हूँ।

सर्वस्व समर्पण करने की
विश्वास महा तरु-छाया में;
चुपचाप पड़ी रहने की क्यों
ममता जगती है माया में?

निस्संबल होकर तिरती हूँ
इस मानस की गहराई में;
चाहती नहीं जागरण कभी
सपने की इस सुघराई में।

नारी-जीवन का चित्र यही
क्या? विकल रंग भर देती हो;
अस्फुट रेखा की सीमा में
आकार कला को देती हो।

मैं जभी तोलने का करती
उपचार, स्वयं तुल जाती हूँ।
भुज-लता फँसाकर नर-तरु से
झूले-सी झोंके खाती हूँ"

"नारी! तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास-रजत-नग-पग-तल में;
पीयूष-स्रोत-सी बहा करो
जीवन के सुंदर समतल में;

देवों की विजय, दानवों की
हारों का होता युद्ध रहा;
संघर्ष सदा उर अंतर में
जीवित रह नित्य विरुद्ध रहा।

आँसू से भीगे अंचल, पर
मन का सब कुछ रखना होगा;
तुमको अपनी स्मित-रेखा से
यह संधि-पत्र लिखना होगा।"

'मानस' के तट पर 'मनु'

(यह कविता बाबू जयशंकर 'प्रसाद' जी के 'कामायनी, नामक महाकाव्य के अंतिम सर्ग (आनंद) से चुनी गई है। इसे अच्छी तरह से समझने के लिये कामायनी की कथा थोड़े में दी जाती है। महाप्रलय के बाद मनु बच जाता है। देवताओं की सभ्यता का नाश हो गया है। मनु की चिन्ता बढ़ जाती है। उसी समय कामायनी (श्रद्धा) आती है और मनु को अकेले देखकर, दया करके, उसके साथ रहने लग जाती है। मनु में, श्रद्धा के सहयोग से, मनुष्यता के भाव पैदा होते हैं। श्रद्धा अब माता बनने की तैयारी में लगी। उसकी ममता बढ़ी। मनु को यह अच्छा न लगा। वह उसको छोड़कर चला गया और सारस्वत देश की रानी इड़ा (बुद्धि) से आदर पाकर उसका राज-काज संभालने लगा। मनु के आने से सारस्वत देश की खूब तरक़्क़ी होती है। लेकिन मनु इड़ा (बुद्धि) पर भी अधिकार करना चाहता है। जबर्दस्ती उसको अपनाना चाहता है। इड़ा देवताओं की बहन थी। मनु के इस बलात्कार से देवता नाराज होते हैं और प्रजा भी बाग़ी हो जाती है। मनु घायल होकर बेहोश हो जाते हैं। कामायनी स्वप्न में भी ये सब बातें देखती है। और अपने पुत्र को लेकर मनु की खोज में चल देती है। सारस्वत देश में आकर इड़ा से भेंट होती है। और घायल मनु को अपनी सेवा-टहल से होश में लाती है। होश में आकर मनु अपनी करनी पर पछताते हैं! कामायनी के प्रेम से वे मुग्ध होते हैं, पर पछतावे के कारण एक रात चुपके से भाग जाते हैं। श्रद्धा को देखकर

इड़ा ग्लानि से गल जाती है और अनुनय-विनय करने लग जाती है। बच्चे (मानव) पर उसका मोह देखकर श्रद्धा उसे इड़ा के हाथों में सौंप देती है और खुद मनु की खोज में चल पड़ती है। पहाड़ की एक घाटी में मनु से भेंट होती है और दोनों ऊँचाई पर चढ़ने लगते हैं। अंत में वे मानस (मान-सरोवर झील) के तट पर पहुँचते हैं। यहीं उन्हें आनन्द प्राप्त होता है।

इधर इड़ा के साथ यात्रियों का एक दल मनु और श्रद्धा के दर्शन करने चलता है। मनुष्य (मनु का पुत्र) अब जवान हो चला था और उसके मुख पर तेज बरसता था। वह 'इड़ा' के पास आकर पूछता है "हम कहाँ जा रहे हैं? उसकी कथा मुझे सुनाओ।" गेरुआ कपड़ा पहने, धीरे-धीरे चलती हुई इड़ा बोली—"हम जहाँ जा रहे हैं वह संसार का पवित्र, शीतल, और शांत तपोवन है और किसी का साधना-स्थान है। बालक साफ़-साफ़ बताने के लिये आग्रह करता है। तब इड़ा सकुचाती हुई कहती है।)

"सुनती हूँ एक मनस्वी
था वहाँ एक दिन आया;
वह जगती की ज्वाला से
अति विकल रहा झुलसाया।

उसकी वह जलन भयानक
फैली गिरिअंचल में फिर;
दावाग्नि प्रखर लपटों ने
कर दिया सघन वन अस्थिर।

थी अर्द्धांगिनी उसी की
जो उसे खोजती आई;
यह दशा देख, करुणा की
वर्षा दृग में भर लाई।

वरदान बने फिर उसके
आँसू, करते जग - मंगल;
सब ताप शांत होकर, वन
हो गया हरित सुख शीतल।

गिरि - निर्झर चले उछलते
छाई फिर से हरियाली;
सूखे तरु कुछ मुसकाए
फूटी पल्लव में लाली।

वे युगल वहीं अब बैठे
संसृति की सेवा करते;
संतोष और सुख देकर
सब की दुख-ज्वाला हरते।

है वहाँ महा-ह्रद निर्मल
जो मन की प्यास बुझाता;
'मानस' उसको कहते हैं।
सुख पाता, जो है जाता।"

मरकत की वेदी पर ज्यों
रक्खा हीरे का पानी;
छोटा-सा मुकुर प्रकृति का
या सोई राका रानी।

संध्या समीप आई थी
उस सर के, वल्कल-वसना;
तारों से अलक गुँथी थी
पहने कदंब की रसना।

खग-कुल किलकार रहे थे
कल-हंस कर रहे कलरव;
किन्नरियाँ बनीं प्रतिध्वनि
लेती थीं तानें अभिनव।

मनु बैठे ध्यान निरत थे
उस निर्मल मानस-तट में ;
सुमनों की अंजलि भरकर
श्रद्धा थी खड़ी निकट में ।

इस ज्योत्स्ना के जलनिधि में
बुद्बुद्-सा रूप बनाए ;
नक्षत्र दिखाए देते
अपनी आभा चमकाए ।

हीरक-कणिका

—✻—
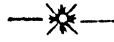
(बाबू जयशंकर 'प्रसाद' जी ने 'आँसू' नामक कविता-पुस्तक में प्रेम पर कुछ कविताएँ लिखी हैं। कणिका उसी 'आँसू' से चुनी गई है।

कवि कहता है कि मेरे इसी हृदय में यादगारों की एक नगरी बस गई है। जिस तरह नगरी आदमी और घरों से भरी हुई रहती है, उसी तरह मेरा यह हृदय भी प्रेम-भावनाओं की यादों से भरा हुआ है, जैसे इस नीले आकाश में तारों का संसार जगमग कर रहा है।)

बस गई एक बस्ती है
स्मृतियों की इसी हृदय में;
नक्षत्र-लोक फैला है—
जैसे इस नील-निलय में।

वाड़व-ज्वाला सोती थी
इस प्रणय-सिंधु के तल में;
प्यासी मछली-सी आँखें
थीं विकल रूप के जल में।

मादक थी, मोहमयी थी—
मन बहलाने की क्रीड़ा ;
अब हृदय हिला देती है
वह मधुर प्रेम की पीड़ा ।

बेसुध जो अपने सुख से,
जिनकी हैं सुप्त व्यथाएँ ;
अवकाश भला है किनको
सुनने को करुण कथाएँ ?

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति-सी छाई ;
दुर्दिन में आँसू बनकर
वह आज बरसने आई ।

तुम सत्य रहे चिर-सुन्दर !
मेरे इस मिथ्या जग के ;
थे केवल जीवन-संगी
कल्याण-कलित इस मग के ।

मधु-राकार मुसकाती थी;
पहले देखा जब तुमको।
परिचित-से जाने कब के
तुम लगे उसी क्षण हमको!

चंचला स्नान कर आवे
चंद्रिका-पर्व में जैसी—
उस पावन तन की शोभा
आलोक-मधुर थी ऐसी!

छलना थी, तब भी मेरा
उसमें विश्वास घना था;
उस माया की छाया में
कुछ सच्चा स्वयं बना था।

शीतल-समीर आता है
कर पावन परस तुम्हारा;
मैं सिहर उठा करता हूँ
बरसाकर आँसू-धारा।

अब छुटता नहीं छुड़ाए
रँग गया हृदय है ऐसा;
आँसू से धुला निखरता—
यह रंग अनोखा कैसा!

सूखे सिकता-सागर में
यह नैया मेरे मन की—
आँसू की धार बहाकर
खे चला प्रेम बेगुन की।

चिर-दग्ध दुखी यह वसुधा
आलोक माँगती तब भी;
तुम तुहिन बरस दो कन-कन
यह पगली सोए अब भी।

७—सूर्यकांत त्रिपाठी "निराला"

जन्म-संवत् १९५५ वि० (सन् १८९८ ई०)। जन्म-भूमि बंगाल का मेदिनीपुर ज़िला। पिता का जन्म-स्थान था यू० पी० का उन्नाव ज़िला, पर महिषादल स्टेट (मेदिनीपुर) में नौकरी लगने के कारण आप वहीं बस गये।

सूर्यकांतजी बड़े ही होनहार निकले। संस्कृत और बंगला में आप बचपन से ही कविता करने लग गये थे। बड़े होने पर आपको हिन्दी से प्रेम हुआ और तब 'निराला' के नाम से आप हिन्दी में रचना करने लगे। किशोरावस्था से ही आपका दर्शन की ओर झुकाव है। कई वर्ष तक आप दार्शनिक पत्र 'समन्वय' के संपादक भी रहे।

बीस वर्ष की उम्र में ही आपकी धर्मपत्नी का देहांत हो गया। घर का भार भी आप पर ही आ पड़ा। स्टेट के स्वामी का 'निराला' जी पर बड़ा स्नेह था। उसी दरबार में आपने संगीत की शिक्षा भी पाई थी।

आपने कवींद्र रवींद्र की कविताओं की मार्मिक समालोचना लिखी है। हिन्दी के कुछ कवियों पर भी आपकी समालोचना हुई

है। आप सुकवि, कहानी-लेखक, उपन्यास-रचयिता, समालोचक निबंध-लेखक और अच्छे गायक हैं। आप सचमुच ही 'निराला' हैं—अपनी कृतियों से और स्वभाव से भी।

अनामिका, परिमल, गीतिका—आदि आपकी कविता पुस्तकें हैं। हिन्दी में अतुकांत और स्वच्छंद छंद लिखने में आपने अच्छी ख्याति पाई है। आप हिन्दी के युग-प्रवर्तक कवियों में अग्रगण्य माने जाते हैं। आपकी गद्य-शैली भी निराली होती है। आप जब अपनी कविताओं को अपने स्वर में गाते हैं, तब समालोचकों को अवाक् रह जाना पड़ता है। भाषा सरल, भाव दार्शनिक, छंदों में स्वाधीनता और शैली में निरालापन—'निराला'जी की यही अपनी विशेषता है। 'निराला'जी ने सचमुच ही हिन्दी-संसार में एक हलचल मचा दी है।

तुम और मैं

('निराला' जी दर्शन के अच्छे विद्वान और कवि हैं। अतः आपकी कविता में उस प्रेरणा या भावना का आना स्वाभाविक ही है। इस कविता में भी कवि ने 'तुम' (भगवान) को 'मैं' (आत्मा या जीव) के सामने रखकर दोनों के अन्तर को बताया है। भगवान कैसा अनन्त, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान है तथा जीव कितना छोटा परमाणु तुल्य है, फिर भी दोनों का सम्बन्ध कितना अटूट और दृढ़ है—यही इस कविता का वर्ण्यविषय है।)

तुम तुंग हिमालय शृंग और मैं चंचल-गति सुर-सरिता।
तुम विमल हृदय-उच्छ्वास और मैं कांत-कामिनी-कविता॥

तुम प्रेम और मैं शांति,
तुम सुरा-पान-घन अंधकार,
मैं हूँ मतवाली भ्रांति।

तुम दिनकर के खर किरण-जाल, मैं सरसिज की मुसकान।
तुम वर्षों के बीते वियोग, मैं हूँ पिछली पहचान॥

तुम योग और मैं सिद्धि,
तुम हो रागानुग निश्छल तप,
मैं शुचिता, सरल समृद्धि।

तुम मृदु मानस के भाव और मैं मनोरंजिनी भाषा।
तुम नंदन-वन-घन-विटप और मैं सुख-शीतल-तल-शाखा॥

तुम प्राण और मैं काया,
तुम शुद्ध सच्चिदानंद ब्रह्म,
मैं मनोमोहिनी माया।

तुम प्रेममयी के कंठ-हार, मैं वेणी काल-नागिनी।
तुम कर-पल्लव-झंकृत सितार, मैं व्याकुल विरह-रागिनी॥

तुम पथ हो, मैं हूँ रेणु,
तुम हो राधा के मन-मोहन,
मैं उन अधरों की वेणु।

तुम पथिक दूर के श्रांत और मैं बाट जोहती आशा।
तुम भव-सागर दुस्तार, पार जाने की मैं अभिलाषा॥

तुम नभ हो, मैं नीलिमा,
तुम शरत-काल के बाल-इंदु,
मैं हूँ निशीथ-मधुरिमा।

तुम गंध कुसुम-कोमल पराग, मैं मृदुगति मलय-समीर।
तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष, मैं प्रकृति-प्रेम-जंजीर॥

तुम शिव हो, मैं हूँ शक्ति,
तुम रघुकुल-गौरव रामचंद्र,
मैं सीता अचला भक्ति।

तुम आशा के मधुमास और मैं पिक-कल-कूजन तान।
तुम मदन पंच-शर-हस्त और मैं हूँ मुग्धा अनजान॥

तुम अंबर, मैं दिग्वसना,
तुम चित्रकार, घन-पटल श्याम,
मैं तड़ित तूलिका रचना।

तुम रण-ताण्डव-उन्माद नृत्य, मैं मुखर मधुर नूपुर-ध्वनि।
तुम नाद वेद ओंकार सार, मैं कवि-शृंगार-शिरोमणि॥

तुम यश हो, मैं हूँ प्राप्ति,
तुम कुंद-इंदु-अरविंद-शुभ्र,
तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति॥

विधवा

(शीर्षक ही अपने अर्थ को स्पष्ट करता है। भारत की विधवाएँ संसार की विधवाओं से काफ़ी भिन्नता रखती हैं। उन्हीं की दुःखपूर्ण हालत को कवि ने सुन्दर और करुणोत्पादक ढंग से वर्णन किया है।)

वह इष्टदेव के मंदिर की पूजा-सी
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-तांडव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है।

षड्-ऋतुओं का शृंगार,
कुसुमित कानन में नीरव-पद-संचार,
अमर कल्पना में स्वच्छंद विहार—
व्यथा की भूली हुई कथा है,
उसका एक स्वप्न अथवा है।

उसके मधु-सुहाग का दर्पण
जिसमें देखा था उसने
बस एक बार बिंबित अपना जीवन-धन,
अबल हाथों का एक सहारा—
लक्ष्य जीवन का प्यारा—वह ध्रुवतारा—
दूर हुआ वह बहा रहा है
उस अनंत पथ से करुणा की धारा।

हैं करुणा-रस से पुलकित इसकी आँखें,
देखा तो भींगी मन-मधुकर की पाँखें;
मृदु रसावेश में निकला जो गुंजार
वह और न था कुछ, था बस हाहाकार!

उस करुणा की सरिता के मलिन पुलिन पर,
लघु टूटी हुई कुटी का मौन बढ़ाकर
अति छिन्न हुए भींगे अंचल में मन को—
मुख-रूखे, सूखे-अधर त्रस्त-चितवन को
वह दुनियाँ की नजरों से दूर बचाकर
रोती है अस्फुट स्वर में;

सुनता है आकाश धीर, निश्चल समीर,
मृदु सरिता की लहरें भी ठहर-ठहरकर।

कौन उसको धीरज दे सके?
दुःख का भार कौन ले सके?
यह दुःख वह जिसका नहीं कुछ छोर है,
दैव, अत्याचार कैसा घोर और कठोर है!
क्या कभी पोंछे किसी के अश्रुजल?
या किया करते रहे सब को विकल?
ओस-कण-सा पल्लवों से झर गया—
जो अश्रु, भारत का उसीसे सर गया।

धारा

बहने दो,

रोक-टोक से कभी नहीं रुकती है
यौवन-मद की बाढ़ नदी की
किसे देख झुकती है?

गरज-गरजकर क्या कहती है—कहने दो—
अपनी इच्छा से प्रबल वेग से बहने दो।
सुना, रोकने उसे कभी कुंजर आया था,
दशा हुई फिर क्या उसकी?—
फल क्या पाया था?

तिनका जैसा मारा मारा
फिरा तरङ्गों में बेचारा—
गर्व गँवाया—हारा;

अगर हठवश आओगे—
दुर्दशा करवाओगे —बह जाओगे—
देखते नहीं?—वेग से हहराती है,—
नग्न प्रलय का-सा ताण्डव हो रहा—
चाल कैसी मतवाली—लहराती है।

प्रकृति को देख, मीचतो आँखें,
त्रस्त खड़ी है—थर्राती है।
आज हो गये ढीले सारे बन्धन,
मुक्त हो गये प्राण,
रुका है सारा करुणा क्रन्दन।

बहती कैसी पागल उसकी धारा!
हाथ जोड़कर खड़ा देखता दीन
विश्व यह सारा;

बड़े दम्भ से खड़े हुए ये भूधर
समझे थे जिसे बालिका
आज ढहाते शिलाखण्ड को देख
काँपते थर-थर—

शिलाखण्ड-नरमुण्डमालिना कहते उसे कालिका।
छुटी लट इधर-उधर लटकी है,
श्यामवक्ष पर खेल रही हैं
सूर्य-किरण-रेखाएँ—

एक पर दृष्टि ज़रा अटकी है—
देखा,—एक कली चटकी है।
लहरों पर लहरों का अञ्चल नाच,
याद नहीं थी करनी इसकी जाँच।
अगर पूछता कोई तो वह कहती—
उसी तरह हँसती पागल-सी कहती—
"जवानी की यह प्रबल उमंग,
जा रही मैं मिलने के लिए—पारकर सीमा
प्रियतम असीम के संग।"

भिक्षुक

(यह कविता भी 'विधवा' की तरह ही है। भिक्षुक का कवि बढ़िया सुंदर चित्र खींचा है।)

वह आता—

दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता।

पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी-भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह-फटी पुरानी झोली को फैलाता—

दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाए,
बाएँ से वे मलते हुए पेट को चलते,
और दाहिना दया-दृष्टि पानी की ओर बढ़ाए।

भूख से सूख ओंठ जब जाते
दाता—भाग्य-विधाता से क्या पाते ?
घूँट आँसुओं के पीकर रह जाते ।

चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए,
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए ।

ठहरो अहा मेरे हृदय में है अमृत,
मैं सींच दूँगा,
अभिमन्यु जैसे हो सकोगे तुम,
तुम्हारे दुःख मैं अपने हृदय में खींच लूँगा ।

८—सुमित्रानंदन पंत

जन्म मई, सन् १९०१ ई०। जन्म-स्थान कसौनी (अल्मोड़ा—यू० पी०)।

हिन्दी के छायावादी कवियों में पंतजी का प्रधान स्थान है। आपका जीवन ही कविता है। आप कविता में और कविता आप में हिल-मिल गयी है। आप एक श्रेष्ठ कलाकार और परम भावुक व्यक्ति हैं। जिस तरह सुगंधित सुन्दर फूलों पर रंग-बिरंगी तितलियाँ शांत भाव से उड़ा करती हैं, उसी तरह आपके प्राण कविता के बाग में विचरते हैं।

आधुनिक हिन्दी (खड़ी बोली) के खुरदरे शरीर को आपने सुकुमारता में ढाल दिया है और उसमें अमृत-मय मधुर प्राण डाल दिये हैं। आपकी कविताओं के शब्द, पानी में बुलबुलों की तरह उत्फुल्ल और ऊर्मिल भाव से लहराते हैं। खड़ी बोली में भी ब्रजभाषा की माधुरी आपने पैदा कर दी है। शब्द-सौंदर्य और शब्द-चयन का आपको बड़ा ध्यान रहता है। इसीसे आपकी शब्दावली सुकुमार और खेल में लग्न शिशुओं की तरह उछलते-खेलते, हँसते-बोलते, रोते-सिसकते दीख पड़ती है।

मानवों के चिर-संगी होते हैं गान-रुदन, प्रेम-वियोग, उल्लास और आँसू। पंतजी के प्राणों में जिस तरह इन चिरंतन भावों की तान अनायास झंकृत हो उठी है, उसी तरह अपने सहज स्वरूप में मानवता भी पुकार कर उठी है। मानव-मानव सब एक हैं—यह भेद-भाव क्यों, यह जाति-पाँति क्यों, राजा प्रजा की विषमता क्यों, यह रक्त-पात और ध्वंस क्यों, यह दुःख-सुख का अत्याचार क्यों? पंतजी मानवता की संपूर्णता के उपासक हैं—मानव का परिचय मानव ही है, बाहरी कोई उपाधि उसके असली रूप पर पर्दा डालनेवाली है, अतः त्याज्य है। मानव देश, जाति, वर्ण, संस्कार के बन्धन में बाँधा नहीं जा सकता। इसी विश्व बंधुत्व के भाव को लेकर कवि पुरातन युग का नाश और नूतन युग का सृजन करने चला है।

'ग्रंथि', 'वीणा', 'पल्लव', 'गुंजन', 'ज्योत्स्ना' 'युगांत'—आदि आपकी रचनाएँ हैं। आपका गद्य भी बड़ा ललित और भावपूर्ण होता है। पंतजी की प्रतिभा पर हिन्दी जगत को अपार अभिमान है। आप हमारे 'शेली' (Shelly) हैं।

———

छाया

(इस कविता में कवि ने छाया (परछाँई) का वर्णन किया है। निर्जीव छाया को सजीव बनाकर उससे बातें की हैं। हज़ारों रूपों में उसे देखा है। कल्पना से छाया का सजीव रूप हमारे मन में बैठा दिया है।)

कौन, कौन तुम परिहित-वसना,
म्लान - मना, भू - पतिता - सी
वात - हता - विच्छिन्न-लता - सी
श्रम - श्रांता व्रज - वनिता-सी ?

नियति-वंचिता, आश्रय - रहिता,
जर्जरिता पद - दलिता - सी,
धूल - धूसरित मुक्त - कुंतला,
किसके चरणों की दासी ?

कौन, कौन हो दमयंती - सी
तुम तरु के नीचे सोई ?
हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या
अलि ! नल-सा निष्ठुर कोई ?

पीले पत्तों की शय्या पर
तुम विरक्ति-सी, मूर्छा-सी,
विजन विपिन में कौन पड़ी हो
विरह-मलिन, दुख-विधुरा-सी

तुम पथ-श्रांता द्रुपद-सुता-सी
कौन छिपी हो अलि! अज्ञात,
तुहिन-अश्रुओं से निज गिनती
चौदह दुखद वर्ष दिन रात?

पछतावे की परछाँई-सी
तुम भू पर छायी हो कौन?
दुर्बलता-सी, अँगड़ाई-सी?
अपराधी-सी, भय से मौन!

मदिरा की मादकता-सी औ',
वृद्धावस्था की स्मृति-सी,
दर्शन की अति जटिल ग्रंथि-सी,
शैशव की निद्रित-स्मिति-सी;

आशा के नव इंद्र-जाल-सी,
सजनि! नियति-सी अंतर्धान,
कहो कौन तुम तरु के नीचे
भावी-सी हो छिपी अजान?

परियों की निर्मल सरसी-सी,
वन्य-देवियाँ जहाँ विहार
करतीं छिप-छिप छाया-दल में,
अनिल-वीचियों में सुकुमार।

तुम त्रिभुवन के नयन-चित्र-सी
यहाँ कहाँ से उतरी प्रात,
जगती की नेपथ्य-भूमि-सी,
विश्व - विदूषक - सी अज्ञात!

सखि! भिखारिणी-सी तुम पथ पर
फैलाकर अपना अंचल,
सूखे पातों ही को पा क्या
प्रमुदित रहती हो प्रतिपल?

पत्रों के अस्फुट अधरों से
संचित कर सुख-दुख के गान,
सुला चुकी हो क्या तुम अपनी
इच्छाएँ सब अल्प, महान ?

ज्योतिर्मय शत नयन खोल नित,
पुलकित पलक पसार अपार,
श्रांत यात्रियों का स्वागत क्या
करती हो तुम बारंबार ?

थके चरण-चिह्नों को अपनी
नीरव - उत्सुकता मे भर,
दिखा रही हो अथवा जग को
पर-सेवा का मार्ग अमर ?

कभी लोभ-सी लंबी होकर,
कभी तृप्ति-सी हो फिर पीन,
क्या संसृति की अचिर-भूति तुम
सजनि ! नापती हो स्थिति-हीन ?

श्रमित, तपित अवलोक पथिक को
रहती हो यों दीन, मलीन?
ऐ विटपी की व्याकुल प्रेयसी!
विश्व-वेदना में तल्लीन।

दिनकर-कुल में दिव्य जन्म पा,
बढ़कर नित तरुवर के संग,
मुरझे पत्रों की साड़ी से
ढँककर अपने कोमल अंग।

सदुपदेश-सुमनों से तरु के
गूँथ हृदय का सुरभित हार,
पर-सेवा-रत रहती हो तुम,
हरती नित पथ-श्रांति अपार।

हे सखि! इस पावन अंचल से
मुझको भी निज मुख ढँककर,
अपनी विस्मृत सुखद गोद में
सोने दो सुख से क्षणभर!

चूर्ण-शिथिलता - सी अँगड़ाकर
होने दो अपने में लीन,
पर-पीड़ा से पीड़ित होना
मुझे सिखा दो, कर मद-हीन।

*　　　　*　　　　*

गाओ, गाओ विहग-बालिके!
तरुवर से मृदु मंगल-गान,
मैं छाया में बैठ, तुम्हारे
कोमल स्वर में कर लूँ स्नान।

—हाँ सखि! आओ, बाँह खोल, हम
लगकर गले, जुड़ा लें प्राण?
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में
हो जावें द्रुत अंतर्धान!

लहरों का गीत

(लहरें गा रही हैं। अपने जीवन की कहानी सुना रही हैं। लहरों में और मानव-जीवन में क्या साम्य है, उनसे हम क्या सीख सकते हैं यह सुन्दर ढंग से वर्णित हुआ है। जन्म-मरण और लहरों के उठने और गिरने में कितनी समानता है! उसी तरह सागर और भवसागर में कितना साम्य है? लहरें छोटी-छोटी बालिकाओं का रूप धारण करके हमारे सामने नाचने लगती हैं। यही कवि की सफलता है। यह पद्य 'ज्योत्स्ना' नामक नाटक से लिया गया है।)

अपने ही सुख से चिर चंचल
हम खिल-खिल पड़ती हैं अविरल,
जीवन के फेनिल-मोती को
ले-ले चल करतल में टलमल ॥

जाने किस मधु का मलय-परस
करता प्राणों को पुलकाकुल,
जीवन की लहलह लतिका में
विकसा इच्छा के नव-नव दल ॥

सुन-सुन मधु-मुरली की मृदुध्वनि,
गृह-पुलिन नाँघ सुख से विह्वल,
हम हुलस नृत्य करतीं हिलमिल,
खस-खस पड़ता उर से अंचल ॥

चिर जन्म-मरण को, हँस-हँसकर,
हम आलिंगन करतीं पल-पल,
फिर-फिर निस्तल से उठ-उठकर,
फिर-फिर उसमें हो-हो ओझल ॥

मानव-जीवन
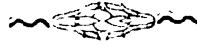
(मानव जीवन क्या है और उसे कैसा होना चाहिये, उसे कवि ने कवित्व-पूर्ण ढंग से—पर स्पष्ट—बतलाया है। सुख-दुख का सम्मेलन या mixture ही मानव-जीवन है। इसमें सुख और दुख का भाग बराबर रखना चाहिये। यह जीवन न तो सिर्फ़ सुखों से ही सुखी रह सकता है और न दुखों से। हास (हँसी) और अश्रु (रोदन) दोनों ही मानव जीवन के प्रधान अंग हैं।)

मैं नहीं चाहता चिर-सुख,
चाहता नहीं अविरत-दुख।
सुख-दुख की खेल-मिचौनी,
खोले जीवन अपना मुख॥

सुख-दुख के मधुर मिलन से,
यह जीवन हो परिपूरन।
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन॥

जग पीड़ित है अति-दुख से,
जग पीड़ित रे अति-सुख से।
मानव-जग में बँट जावें,
दुख सुख से औ' सुख दुख मे ॥

अविरत दुख है उत्पीड़न
अविरत सुख भी उत्पीड़न,।
दुख-सुख की निशा-दिवा में,
सोता-जगता जग-जीवन ॥

यह साँझ-उषा का आँगन,
आलिंगन विरह-मिलन का।
चिर हास-अश्रुमय आनन,
रे! इस मानव-जीवन का ॥

कोकिल

(कवि, समाज और देश के सड़े हुए विचारों और भागों को देखकर, आग बरसाना चाहता है, जिससे यह सड़ा हुआ, पुराना जलकर भस्म हो जाय और समाज में, (मानवता में) नवीन और सुन्दर पत्ते निकलें। आज तक कवि (कोकिल) शृंगार और विलास का सनातन राग ही गाता आ रहा है। मगर, आज वह क्रांति का राग गाना चाहता है।)

गा, कोकिल, बरसा पावक-कण!
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण-पुरातन,
ध्वंस-भ्रंश जग के जड़-बंधन,
पावक-पग धर आवे नूतन!

गा, कोकिल, भर स्वर में कंपन!
झरें जाति-कुल-वर्ण-पर्ण घन,
अंध-नीड़ से रूढ़ि-रीति छन;
व्यक्ति-राष्ट्र-गत राग-द्वेष, रण
झरें, मरें विस्मृति में तत्क्षण

गा, कोकिल, गा, कर मत चिंतन !
नवल रुधिर से भर पल्लव-तन,
नवल स्नेह-सौरभ से यौवन ;
कर मंजरित नव्य जग-जीवन,
गूँज उठें, पी-पी नवमधु जन !

गा, कोकिल, नव गान कर सृजन !
रच मानव के हित नूतन मन,
वाणी, वेश, भाव, नव शोभन ;
स्नेह, सुहृदता हो मानस-धन,
सीखें जन नव जीवन-यापन !

गा, कोकिल, संदेश सनातन !
मानव दिव्य स्फुलिंग चिरंतन,
वह न देह का नश्वर रज-कण ;
देश काल हैं उसे न बंधन,
मानव का परिचय मानव-पन !
गा, कोकिल, मुकुलित हो दिशि क्षण !

६—बालकृष्ण शर्मा "नवीन"

—※—
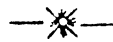
जन्म-संवत् १९५६ वि० (सन् १८९९ ई०)। जन्म-स्थान उज्जैन। उपनाम "नवीन"।

"नवीन" जी बड़े ही भावुक कवि, कहानी-लेखक, सुंदर-गायक, सुवक्ता और श्रेष्ठ पत्रकार हैं। आप राष्ट्रीय स्वातंत्र्य-समर के कट्टर योद्धा हैं। आपकी रचनाओं में राष्ट्रीय जागरण के बड़े ओजस्वी भाव भरे हुए हैं। योद्धा की कट्टरता और कवि की भावुकता का आपमें ऐसा गंगा-जमुनी मेल हुआ है, कि देखकर दंग रह जाना पड़ता है—जैसे आग्नेय गिरि से निर्झरिणी झरती हो। भस्म में छिपे अग्नि-कण की तरह उनके हृदय में भी एक आग छिपी है जो आँधी चलने पर चमक उठती है—तभी हम "नवीन" जी का योद्धा-रूप देख जोश में आ जाते हैं। उसी तरह उनके हृदय में कहीं एक गहरा घाव भी है जिसे कभी-कभी एकांत में बैठकर वे अपने ही नखों से खरोंचकर हरा कर देते हैं और फिर अपने दर्द में आप कराह उठते हैं—तब हम "नवीन" जी के अंतर का गहरा मर्मस्थल देख पिघल पड़ते हैं। छाया और प्रकाश की तरह, दिन और रात की तरह, करुणा और वीरता की तरह "नवीन" जी के जीवन के ये सुंदर रुख हैं जिनकी झलक उनकी रचनाओं में पायी जाती है।

आपने समय-समय पर बहुत-सी कविताएँ लिखी हैं। कुछ काव्य भी लिखे हैं। खड़ी बोली में कुछ सुंदर दोहे भी लिखे हैं, पर अभी वे पुस्तकाकार नहीं हुए हैं। "नवीन" जी कवि-सम्मेलनों के प्राण हैं; उनके बिना कवि-सम्मेलन बिना दूल्हे की बारात ही समझिये। आप बड़े ही सहमिल, विनीत, स्नेही और उदार व्यक्ति हैं। निर्भीकता तो आपका दूसरा नाम ही समझिये। आपके आदर्श और रचनाओं का तरुण-कवियों पर बड़ा ही प्रभाव पड़ा है।

"नवीन" जी प्रताप के संपादन में स्वर्गीय गणेश शंकर विद्यार्थीजी के सदा से दाहिने हाथ रहे हैं।

विप्लव-गायन

(कवि विप्लव का, क्रांति का गान गाना चाहता है। चाहता है कि क्रांति हो और समाज के जीर्ण, सड़े नियम टूटें : अराजकता, महानाश, फैल जाय। आज कवि अपनी वाणी में—जिससे अमृत बरसता था—आग लगाना चाहता है।)

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ—
जिससे उथल-पुथल मच जाए ॥
एक हिलोर इधर से आए।
एक हिलोर उधर से आए।
प्राणों के लाले पड़ जाएँ,
त्राहि-त्राहि रव नभ में छाए।
नाश और सत्यानाशों का,
धुँआधार जग में छा जाए।
बरसे आग, जलद जल जाएँ,
भस्मसात भूधर हो जाएँ।
पाप-पुण्य सद्सद् भावों की
धूल उड़ उठे दाएँ-बाएँ।

नभ का वक्ष-स्थल फट जाए,
तारे टूक-टूक हो जाएँ।
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ—
जिससे उथल-पुथल मच जाए।

माता की छाती का अमृतमय पय काल-कूट हो जाए,
आँखों का पानी सूखे, वे शोणित की घूँटें हो जाएँ

एक ओर कायरता काँपे,
गतानुगति विगलित हो जाए।
अंधे, मूढ़ विचारों की वह
अचल शिला विचलित हो जाए।

और दूसरी ओर कँपा देनेवाला गर्जन उठ धाए।
अंतरिक्ष में एक उसी नाशक तर्जन की ध्वनि मँडराए।

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ—
जिससे उथल-पुथल मच जाए॥

नियम और उपनियमों के ये बंधन टूक-टूक हो जाएँ,
विश्वंभर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जाएँ।
शांति दंड टूटे,—उस महारुद्र का सिंहासन थर्राए,
उसकी पोषक श्वासोच्छ्वास, विश्व के प्रांगण में घहराए।

नाश ! नाश !! हा महानाश !!! की प्रलयंकरी आँख खुल जाए,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाए ॥
सावधान ! मेरी वीणा में चिनगारियाँ आन बैठी हैं,
टूटी हैं मिज़रावें, युगलांगुलियाँ ये मेरी ऐंठी हैं ।
कंठ रुका जाता है, महानाश का गीत रुद्ध होता है,
आग लगेगी क्षण में, हृत्तल में अब क्षुब्ध युद्ध होता है ।
झाड़ और झंखाड़ व्याप्त हैं—इस ज्वलंत गायन के स्वर से
रुद्ध-गीत की क्षुब्ध तान निकली है मेरे अंतर-तर से ॥

प्रज्वलित वह्नि

—⌄⌄⌄⌄—

(कवि ने कुछ पुरानी स्मृतियों को अपने हृदय में बन्द कर रखा था। एकाएक ऐसी हवा चली कि वह जटिल द्वार खुल गया और भूतकाल का दृश्य साफ़ दिखाई पड़ने लगा। उसका प्रेमपात्र किस तरह उसकी स्मृति-पट पर आकर आँख-मिचौनी खेलता है; वह किस तरह परेशान होता है; किस तरह अन्त में वेदना को जागृत कर यान बनाना चाहता है और उस यान पर चढ़कर प्रियतम के दर्शन करना चाहता है—आदि बातें बहुत वेदना-भरे ढंग से कही गयी हैं। अन्त में कवि वेदना की आग सुलगाना चाहता है, जिससे हृदय में भाप बने और संसार करुणा की धारा पाकर शीतल हो।)

वह चली, आह, कैसी बयार!
खोला अतीत का जटिल द्वार!

*　　　*　　　*

मेरी निकुंज की गलियों में,
आता वह घृत ले पलियों में,
धरता है दीवे अलियों में,
गणना है उसकी छलियों में।

स्मृति-दीपक बुझता बार-बार
बह चली आह, कैसी बयार।

कुछ देर जले यह दिया और,
गूँथूँ माला का एक छोर,
विस्मृति की आँधी, कर न शोर,
चंचलते! बहकाओ न मोर।

मेरे मन का गाकर मलार—
बह चली, आह, कैसी बयार!

किसको आराधूँ? चलूँ कहाँ?
किसकी मुरली को सुनूँ कहाँ?
किसका अधरामृत पियूँ कहाँ?
किस अग्नि-लोक में जियूँ कहाँ?

जिससे छूटें बंधन-विचार—
बह चली, आह, कैसी बयार!

वेदने, सुनो मेरी वाणी,
हृत्खंड जलाओ कल्याणी!
तुम जिस प्रदेश की हो रानी,
कर दो वह भस्म, न दो पानी!

तब निकले शोले तीन चार—
बह चली, आह, कैसी बयार !

इस हृदय-यज्ञ का धूम्र-यान,
लेकर आवेगा मूर्तिमान ;
मेरी आहों का अश्रु-दान,
स्मृति-रत्नों से भूषित महान ।

उस झाँकी पर होऊँ निसार ;
बह चली, आह, कैसी बयार !

गत आनंदों के अश्रु-क्षीण !
आगत दुख के अनुभव प्रवीण !
अव्यक्त भावना-भरी वीन !
यों हाथ जोड़ कहता 'नवीन'—

प्रज्वलित वह्नि सुलगे अपार—
हृत्खंड करे फिर जल विहार !
निकलें सोतें उनसे अपार—
बह चले, आह, ऐसी बयार !

७—महादेवी वर्मा

जन्म-संवत् १९६४ वि. (सन् १९०७ ई.)। जन्म-स्थान फ़र्रुख़ाबाद (यू० पी०)। ११ साल की उम्र में ही शादी हो गयी। आपने एम. ए. पास किया है। आजकल प्रयाग-महिला विद्या-पीठ में अध्यापन-कार्य करती हैं। मासिक 'चाँद' का सम्पादन भी आपने सफलता के साथ किया है।

आपने ख़ुद लिखा है कि आपके जीवन में सुख बहुत ज़्यादा रहा है—कभी कोई अभाव आपको नहीं हुआ। इसी से दुःख के साथ आपका गहरा प्रेम हो गया है। जिस तरह चितौड़ की राज-रानी मीरा को कोई अभाव नहीं था, फिर भी वह अपने अलक्ष्य प्रभु की आराधना में बावली बनी फिरती थी, महादेवीजी की साधना भी उसी पथ पर चल रही है। इसी से आप वेदना की सखी और उसकी मधुर गायिका हैं।

आपके गानों में प्रकृति-वर्णन बड़ा ही करुण-आह्लाद लिये रहता है। जिस तरह कलियों के कोष में ओस के कण और सुन्दर भोले नेत्रों में छल-छल आँसू की बूँदें बड़ी मधुर वेदना पैदा करती हैं, उसी तरह आपकी कविता के शब्दों में सुकुमार सुन्दरता, छंदों में मधुर गुंजार, और भावों में पीड़ा की पुकार होती है।

देवीजी चतुर चित्र लेखिका भी हैं। 'सांध्य-गीत' में आपके अंकित कुछ चित्र भी छपे हैं, जो आपकी विस्तृत प्रतिभा की सूचना देते हैं। आप कविता और कला की सजीव प्रतिमा तो हैं ही, साथ ही उस अगोचर, पर घट-घट-व्यापक, प्रेम-पंथ के पथिक भी हैं, जिसके यात्री बहुत कम होते हैं।

'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', सांध्यगीत'—आदि कविता-पुस्तकों में आपके गानों का संग्रह हुआ है। 'सांध्यगीत' हिन्दी साहित्य में बेजोड़ चीज़ है।

मेरा राज्य

(जीवन के उष:काल में जब कवयित्री ने प्रियतम परमात्मा की ओर नज़र फेरी और उनके चरणों पर आँसू चढ़ाये, तभी उसने प्रियतम का रूप देखा और मतवाली बन गयी। उस समय से उसे पीड़ा और वेदना का राज्य मिला। तब से अब तक वह उस पीड़ा के राज्य की रानी बनी बैठी है। आहों को ज़ब्त करके प्राणों के दीप जलाकर दीवाली—ख़ुशी—मनाती रहती है। क्या हर्ज है अगर उसका दीपक बुझ जाय! इससे उसका तो कुछ नुकसान नहीं होगा। बल्कि प्रियतम की पीड़ा का जो साम्राज्य है—(वह)अँधेरा हो जायगा।)

रजनी ओढ़े जाती थी
झिलमिल तारों की जाली,
उसके बिखरे वैभव पर
जब रोती थी उजियाली;

शशि को छूने मछली-सी
लहरों का कर-कर चुंबन,
बेसुध तम की छाया का
तटिनी करती आलिंगन।

अपनी जब करुण कहानी
कह जाता है मलयानिल,
आँसू से भर जाता जब
सूखा अवनी का अंचल।

पल्लव के डाल हिंडोले
सौरभ सोता कलियों में,
छिप-छिप किरणें आती जब
मधु से सींची गलियों में,

आँखों में रात बिता जब
विधु ने पीला मुख फेरा,
आया फिर चित्र बनाने
प्राची में प्रात चितेरा।

कन-कन में जब छायी थी
वह नव-यौवन की लाली,
मैं निर्धन तब आयी ले
सपनों से भरकर डाली।

जिन चरणों की नख-ज्योती
ने हीरक-जाल लजाए,
उन पर मैंने धुँधले-से
आँसू दो-चार चढ़ाए।

इन ललचाई पलकों पर
पहरा जब था व्रीड़ा का,
साम्राज्य मुझे दे डाला
उस चितवन ने पीड़ा का।

उस सोने के सपने को
देखे कितने युग बीते,
आँखों के कोष हुए हैं
मोती बरसाकर रीते।

अपने इस सूनेपन की
मैं हूँ रानी मतवाली,
प्राणों का दीप जलाकर
करती रहती दीवाली।

मेरी आहें सोती हैं
इन ओठों की ओटों में,
मेरा सर्वस्व छिपा है
इन दीवानी चोटों में।

चिंता क्या है, हे निर्मम!
बुझ जाए दीपक मेरा;
हो जाएगा तेरा ही
पीड़ा का राज्य अँधेरा!

फूल

(बहुत ही सुन्दर भावों और शब्दों में फूल का वर्णन किया है कवयित्री ने—मानों फूल में जीवन घोल दिया है, उनमें प्राण आ गये हैं, वे बोलते-से नज़र आते हैं। पाठक, सोचकर देखेंगे तो पता चलेगा कि यह फूल और कुछ नहीं —हमारा जीवन-फूल ही है।)

मधुरिमा के, मधु के अवतार,
सुधा-से, सुषमा-से, छविमान,
आँसुओं में सहमे अभिराम,
तारकों से हे मूक अजान!

सीखकर मुस्काने की बान,
कहाँ आये हो कोमल प्राण?

स्निग्ध रजनी से लेकर हास,
रूप से भर कर सारे अंग,
नये पल्लव का घूंघट डाल,
अछूता ले अपना मकरंद,

ढूँढ़ पाया कैसे यह देश?
स्वर्ग के हे मोहक संदेश!

रजत-किरणों से नैन पखार,
अनोखा ले सौरभ का भार,
छलकता लेकर मधु का कोष,
चले आये एकाकी पार।

कहो क्या आये मारग भूल?
मंजु छोटे मुस्काते फूल!

उषा के छू आरक्त कपोल,
किलक पड़ता तेरा उन्माद,
देख तारों के बुझते प्राण!
न जाने क्या आ जाता याद?

हेरती है सौरभ की हाट,
कहो किस निर्मोही की बाट?

चांदनी का शृंगार समेट
अध-खुली आँखों की यह कोर,
लुटा अपना यौवन अनमोल,
ताकती किस अतीत की ओर !

जानते हो यह अभिनव प्यार,
किसी दिन होगा कारागार ?

कौन वह है संमोहन राग,
खींच लाया तुमको सुकुमार
तुम्हें भेजा जिसने इस देश,
कौन वह है निष्ठुर कर्तार

हँसो, पहनो, काटों के हार,
मधुर भोलेपन के संसार !

उस पार

(कवयित्री अंधकार से घिरी है। चारों ओर उसे निराशा ही निराशा देख पड़ती है। सागर में तूफ़ान है, नाव फूटी है, खेनेवाला कोई नहीं है, पतवार भी नहीं है और उसपर मनोरथों का भार लेकर जा रही है। भला उसे उस पार—इस गरजते भव-सागर के उस पार—कौन पहुँचा देगा?

उसने सुना है कि इस समुद्र को पार कर जाने से सुख और शांति का राज्य मिलेगा। वहाँ की प्रकृति यहाँ से बिलकुल भिन्न है। वहाँ शांति है, आनन्द है, सुख है।—अन्त में उसको मालूम पड़ता है कि उसे और कोई पार नहीं ले जायगा। वह खुद इस महासागर में डूबकर ही पार पहुँच जायगी।)

घोर तम छाया चारों ओर,
घटाएँ घिर आयीं घन घोर,
वेग मारुत का है प्रतिकूल
हिले जाते हैं पर्वत-मूल;

गरजता सागर बारंबार,
कौन पहुँचा देगा उस पार?

तरंगें उठीं पर्वताकार,
भयंकर करतीं हाहाकार ;
अरे, उनके फेनिल उच्छ्वास
तरी का करते हैं उपहास ;

हाथ से गयी छूट पतवार !
कौन पहुँचा देगा उस पार ?

ग्रास करने नौका, स्वच्छंद
घूमते-फिरते जलचर वृंद ;
देखकर काला सिंधु अनंत,
हो गया हा, साहस का अंत !

तरंगें हैं उत्ताल अपार,
कौन पहुँचा देगा उस पार ?

बुझ गया वह नक्षत्र-प्रकाश,
चमकती जिसमें मेरी आश ;
रैन बोली सज कृष्ण-दुकूल—
विसर्जन करो मनोरथ फूल ;

न लाये कोई कर्णाधार,
कौन पहुँचा देगा उस पार ?

सुना था मैंने उसके पार !
बसा है सोने का संसार !
जहाँ के हँसते विहग ललाम
मृत्यु छाया का सुनकर नाम ;

धरा का है अनंत शृंगार,
कौन पहुँचा देगा उस पार ?

जहाँ के निर्झर नीरव गान
सुना, करते अमरत्व प्रदान ;
सुनाता, नभ अनंत झंकार,
बजा देता है सारे तार ;

भरा जिसमें असीम-सा प्यार,
कौन पहुँचा देगा उस पार ?

पुष्प में है अनंत मुसकान
त्याग का है मारुत में गान,
सभी में है स्वर्गीय विकास
वही कोमल कमनीय प्रकाश ;

दूर कितना है वह संसार ?
कौन पहुँचा देगा उस पार ?

सुनायी किसने पल में आन
कान में मधुमय मोहक तान?
"तरी को ले जाओ मँझधार
डूबकर हो जाओगे पार;

विसर्जन ही है कर्णाधार,
वही पहुँचा देगा उस पार!"

मेरा जीवन

(मानव-जीवन की सुन्दर व्याख्या है। यह जीवन क्या है? और हम उसे किस रूप में देखते हैं? कवयित्री बहुत कवित्वपूर्ण ढंग से बतलाती है कि हमारा शैशव कितना सरल, कितना अबोध था। एकाएक किसी ने आकर उसमें विष घोल दिया। अपनी संमोहन तान सुनाकर जवानी आयी। हम आशा, निराशा, हँसी, रोदन आदि के झकोरे में पड़े। वह ज़माना भी गया। अन्त में बासी फूल की तरह ठुकरा दिये गये।—मगर यही तो जीवन है। खिले हुए फूल भी तो मुरझाते ही हैं।—इसलिए अब आँखें खोलो। तुम्हें क्या करना है—सोचो। सुख और संयोग की यहाँ आशा मत रखो।)

स्वर्ग का था नीरव उच्छ्वास
देव-वीणा का टूटा तार,
मृत्यु का क्षण-भंगुर उपहार,
रत्न वह प्राणों का शृंगार;

नयी आशाओं का उपवन
मधुर वह था मेरा जीवन!

क्षीर-निधि की थीं सुप्त तरंग,
सरलता का न्यारा निर्झर,
हमारा वह सोने का स्वप्न,
प्रेम का चमकीला आकर;

शुभ्र जो था निर्मेघ गगन,
सुभग मेरे संगी जीवन

अलक्षित आ किसने चुपचाप,
सुना अपनी संमोहन तान,
दिखाकर माया का साम्राज्य
बना डाला इसको अज्ञान!

मोह-मदिरा का आस्वादन,
किया क्यों हे भोले जीवन?

तुम्हें ठुकरा जाता नैराश्य,
हँसा जाती है तुमको आश,
नचाता मायावी संसार,
लुभा जाता सपनों का हास

मानते विष को संजीवन!
मुग्ध मेरे भोले जीवन!

न रहता भौंरों का आह्वान,
नहीं रहता फूलों का राज्य,
कोकिला होती अंतर्धान,
चला जाता प्यारा ऋतुराज;

असंभव है चिर सम्मेलन,
न भूलो क्षणभंगुर जीवन

विकसते मुरझाने को फूल;
उदय होता छिपने को चाँद,
शून्य होने को भरते मेघ,
दीप जलता होने को मंद;

यहाँ किसका अनंत यौवन?
अरे, अस्थिर छोटे जीवन!

छलकती जाती है दिन-रैन,
लबालब तेरी प्याली मीत,
ज्योति होती जाती है क्षीण,
मौन होता जाता संगीत;

करो नयनों का उन्मीलन,
क्षणिक हे मतवाले जीवन!

शून्य से बन जाओ गंभीर,
त्याग की हो जाओ झंकार,
इसी छोटे प्याले में आज,
डुबा डालो सारा संसार;

लजा जाएँ ये मुग्ध सुमन,
बनो ऐसे छोटे जीवन!

सखे! यह है माया का देश,
क्षणिक है तेरा मेरा संग;
यहाँ मिलता काँटों में बंधु!
सजीला-सा फूलों का रंग;

तुम्हें करना विच्छेद सहन,
न भूलो हे प्यारे जीवन!

८—रामधारी सिंह "दिनकर"

"दिनकर" बिहार के उदीयमान कवि हैं। मुंगेर जिले के 'सिमरिया' नामक गाँव में आपका जन्म हुआ था। आप युवक हैं।

'रेणुका' नामक पुस्तक में आपकी कविताओं का संग्रह निकला है। उसकी 'हिमालय के प्रति', 'मिथिला', 'कविता की पुकार', 'वैभव की समाधि पर'—आदि कवितायें बहुत जानदार हुई हैं। 'दिनकर' की ललकार सुनकर महामुनि-सा मौन हिमालय हिलता-सा देख पड़ता है। हिन्दुस्तान का पहरेदार देखता ही रहा और देश लुट गया—वीरान हो गया। मुगलों की दिल्ली भी कवि के साथ अपने उजड़े आँगन में आँसू बहाती है। शाहजहाँ बादशाह कवि की सहानुभूति से, 'ताजमहल' को तोड़कर निकलना चाहता है।

कविता की भाषा जोशीली, फड़कती हुई, सुंदर और सरस है। शैली मनोहर है। वर्णन हृदयग्राही है। भारत के भूतकाल के प्रति कवि की आत्मा में गहरी ममता आ बैठी है, इसी से वह बार-बार मिथिला, मगध, वैशाली और दिल्ली की याद करके रोता है। देश की मौजूदा हालत देख 'दिनकर' का दिल दहल उठता है और उसकी कविता कह उठती है—'चलो, कवि, वन-फूलों की ओर।'

हिमालय के प्रति
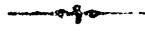
(हिमालय पर्वत भारत के उत्तर में अनादिकाल से खड़ा है और उसकी रक्षा कर रहा है। बहुत से शत्रु उसको पार न कर सकने के कारण ही भारत पर चढ़ाई न कर सके। इस तरह वह हमारा रक्षक रहा है। पर, वह मूक है, संन्यासी है, मानो तपस्या कर रहा हो। कवि उसकी इस तपस्या से घबड़ा उठा है, वह उससे देश की दशा देखने को कहता है। और कहता है—कि एक बार क्रान्ति मचे और नवयुग के साथ हम आगे बढ़ें।)

मेरे नगपति! मेरे विशाल!

साकार, दिव्य, गौरव विराट,
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल,
मेरी जननी के हिम-किरीट,
मेरे भारत के दिव्य भाल,

मेरे नगपति! मेरे विशाल!

युग-युग अजेय, निर्बंध, मुक्त
युग-युग गर्वोन्नत, नित महान,
निस्सीम व्योम में तान रहे
युग से किस महिमा का वितान ?

कैसी अखंड यह चिर समाधि ?
यतिवर ! कैसा यह अमर ध्यान ?
तू महाशून्य में खोज रहा
किस जटिल समस्या का निदान ?

उलझन का कैसा विषम जाल
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

ओ, मौन तपस्या-लीन यती,
पल-भर तो कर नयनोन्मेष ;
रे ज्वालाओं से दग्ध, विकल
है तड़प रहा पद पर स्वदेश !

सुख-सिन्धु, पंचनद, ब्रह्मपुत्र,
गंगा, यमुना की अमिय-धार,
जिस पुण्य-भूमि की ओर बही
तेरी विगलित करुणा उदार,

जिसके द्वारों पर खड़े क्रांत
सीमापति ! तूने की पुकार—
'पद-दलित इसे करना पीछे,
पहले ले मेरा सिर उतार !'

उस पुण्य-भूमि पर आज तपी,
रे ! आन पड़ा संकट कराल ;
व्याकुल तेरे सुत तड़प रहे !
डँस रहे चतुर्दिक विविध व्याल !
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

कितनी मणियाँ लुट गईं, मिटा
कितना मेरा वैभव अशेष ?
तू ध्यान-मग्न ही रहा, इधर
वीरान हुआ प्यारा स्वदेश !

कितनी द्रुपदा के बालखुले,
कितनी कलियों का अंत हुआ,
कह हृदय खोल चित्तौर ! यहाँ
कितने दिन ज्वाल-वसन्त हुआ !

पूछे, सिकता-कण से हिमपति
तेरा वह राजस्थान कहाँ ?
वन-वन स्वतन्त्रता-दीप लिये
फिरनेवाला बलवान कहाँ ?

तू पूछ अवध से, राम कहाँ ?
वृंदा ! बोलो, घनश्याम कहाँ ?
ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक ?
वह चंद्रगुप्त बल-धाम कहाँ ?

पैरों पर ही है पड़ी हुई
मिथिला भिखारिणी सुकुमारी,
तू पूछ, ~~कहाँ मेरे अशोक~~ कहाँ इसने खोई ?
अपनी अनंत निधियाँ सारी ?

री कपिलवस्तु ! कह, बुद्धदेव
के वे मंगल-उपदेश कहाँ ?
तिब्बत, इरान, जापान, चीन,
तक गये हुए संदेश कहाँ ?

वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ, लिच्छवी-शान कहाँ ?
ओ री उदास गंडकी ! बता,
विद्यापति-कवि के गान कहाँ ?

तू तरुण देश से पूछ अरे,
गूँजा यह कैसा ध्वंस-राग ?
अंबुधि-अंतस्तल बीच छिपी
यह सुलग रही है कौन आग ?

प्राची के प्रांगण बीच देख,
जल रहा स्वर्ण-युग-अग्निज्वाल,
तू सिंह-नाद कर जाग यती !
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

रे, रोक युधिष्ठिर को न यहाँ,
जाने दे उनको स्वर्ग धीर !
पर फिरा हमें गांडीव, गदा
लौटा दे अर्जुन, भीम वीर !

कह दे शंकर से, आज करें
वे प्रलय-नृत्य फिर एक बार;
सारे भारत में गूँज उठे
'हर-हर-बम' का फिर महोच्चार।

ले अँगड़ाई, उठ हिले धरा,
कर निज विराट स्वर में निनाद,
तू शैलराट् ! हुंकार भरे,
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद।

तू मौन त्याग, कर सिंह-नाद
रे तपी! आज तप का न काल।
नव-युग-शंख-ध्वनि जगा रही—
तू जाग, जाग, मेरे विशाल!

मेरे नगपति! मेरे विशाल!

———

परिचय

(कवि अपना परिचय देता है। बतलाता है कि मैं मनुष्य हूँ। मनुष्य में जो कमजोरियाँ, जो लघुता और जो बड़प्पन हो सकता है—सब मुझमें है।—फिर वह समुद्र और वज्र को भी ललकारता है। लेकिन आखिर में कहता है कि इतना सब होते हुए भी—उसकी क़लम बँधी है—वह जो कुछ कहना चाहता है, नहीं कह सकता।)

सलिल-कण हूँ कि पारावार[१] हूँ मैं ?
स्वयं छाया, स्वयं आधार[२] हूँ मैं।
बँधा हूँ, स्वप्न हूँ, छोटा बना हूँ ;
नहीं तो व्योम का विस्तार हूँ मैं।

समाना चाहती जो बीन उर में ;
विकल उस शून्य की झंकार हूँ मैं।
भटकता खोजता हूँ ज्योति तम में ;
सुना है ज्योति का आगार हूँ मैं।

जिसे निशि खोजती तारे जलाकर;
उसी का कर रहा अभिसार हूँ मैं।
जनम कर मर चुका सौ बार लेकिन
अगम का पा सका क्या पार हूँ मैं?

कली की पंखड़ी पर ओस-कण में;
रंगीले स्वप्न का संसार हूँ मैं।
मुझे क्या आज ही या कल झरूँ मैं;
सुमन हूँ, एक लघु उपहार हूँ मैं।

जलन हूँ, दर्द हूँ, दिल की कसक हूँ;
किसी का हाय! खोया प्यार हूँ मैं।
गिरा हूँ भूमि पर नन्दन-विपिन से,
अमर-तरु का सुमन सुकुमार हूँ मैं।

मधुर जीवन हुआ कुछ प्राण! जब से;
लगा ढोने व्यथा का भार हूँ मैं।
रुदन अनमोल धन कवि का इसी से;
पिरोता आँसुओं का हार हूँ मैं।

मुझे क्या गर्व हो अपनी विभा का?
चिता का धूलिकण हूँ, क्षार हूँ मैं।
पता मेरा तुझे मिट्टी कहेगी;
समा जिसमें चुका सौ बार हूँ मैं।

न देखे विश्व, पर मुझको घृणा से;
मनुज हूँ, सृष्टि का शृंगार हूँ मैं।
पुजारिन! धूलि से मुझको उठा ले;
तुम्हारे देवता का हार हूँ मैं।

सुनूँ क्या सिंधु! मैं गर्जन तुम्हारा?
स्वयं युग-धर्म की हुंकार हूँ मैं।
कठिन निर्घोष हूँ भीषण अशनि का;
प्रलय-गांडीव की टंकार हूँ मैं।

दबी-सी आग हूँ भीषण क्षुधा की;
दलित का मौन हाहाकार हूँ मैं।
सजग संसार, तू निज को सम्हाले;
प्रलय का क्षुब्ध पारावार हूँ मैं।

बँधा तूफान हूँ, चलना मना है;
बँधी उद्दाम निर्झर-धार हूँ मैं;
कहूँ क्या कौन हूँ? क्या आग मेरी?
बँधी है लेखनी, लाचार हूँ मैं।

बुद्ध-आह्वान

(महात्मा बुद्ध को कवि पुकारता है। आज संसार उसकी समानता और अहिंसा के उपदेशों को भूल गया है। शास्त्र-भार से—युद्ध की शंका से—पृथ्वी कांप रही है। महात्मा गान्धी-जैसे अहिंसक महात्माओं पर वार होते हैं, मनुष्य अस्पृश्य समझे जा रहे हैं; भगवान मंदिरों में बन्द कर दिये गये हैं—ऐसे समय में बुद्ध-जैसी शक्ति की बड़ी आवश्यकता है। कवि उच्चाटन मंत्र के समान प्रभावशाली वाणी से बुद्ध को पुनः भारत में बुलाता है।)

सिमट विश्व-वेदना निखिल बज उठी करुण अंतर में,
देव! हुंकरित हुआ कठिन युग-धर्म तुम्हारे स्वर में।
काँटों पर कलियाँ, गैरिक पर किया मुकुट का त्याग,
किस सुलग्न में जगा प्रभो! यौवन का तीव्र विराग?

चले ममता का बंधन तोड़,
विश्व की महामुक्ति की ओर।

तप की आग, त्याग, की ज्वाला में प्रबोध संधान किया;
विष पी स्वयं, अमिय जीवन का तृषित विश्व को दान किया।

गूँज रही अब भी नभ में तेरे मानस की व्यथा अथाह;
बहती है गंगा लेकर कब से तेरा वह अश्रु-प्रवाह।
वैशाली की धूल चरण चूमने ललक ललचाती है,
स्मृति-पूजन में तप-कानन की लता पुष्प बरसाती है।

बट के नीचे खड़ी खोजती लिये सुजाता खीर तुम्हें,
बोधि-वृक्ष-तल बुला रहे कल-रव में कोकिल-कीर तुम्हें,
शस्त्र-भार से विकल खोजती रह-रह धरा अधीर तुम्हें!
प्रभो! पुकार रही व्याकुल-मानवता की जंजीर तुम्हें।

आह! सभ्यता के प्रांगण में आज गरल-वर्षण कैसा?
घृणा सिखा निर्वाण दिलानेवाला यह दर्शन कैसा?
स्मृतियों का अंधेर! शास्त्र का दंभ! तर्क का छल कैसा?
दीन, दलित, असहाय जनों पर अत्याचार प्रबल कैसा?

आज दीनता को प्रभु की पूजा का भी अधिकार नहीं,
देव! बना था क्या दुखियों के लिए निठुर संसार नहीं?
धन-पिशाच की विजय! धर्म की पावन ज्योति अदृश्य हुई।
दौड़ो, बोधिसत्व! भारत में मानवता अस्पृश्य हुई!

धूप, दीप, आरती, कुसुम ले, भक्त प्रेम-वश आते हैं;
मंदिर का पट बंद देख 'जय' कह निराश फिर जाते हैं।
शबरी के जूठे बेरों से आज राम को प्रेम नहीं,
मेवा छोड़ शाक खाने का याद नाथ को नेम नहीं।

पर गुलाब जल में गरीब के अश्रु राम क्या पावेंगे?
बिना नहाए इस जल में क्या नारायण कहलावेंगे?

मनुज-मेध के पोषक दानव आज निपट निर्द्वंद्व हुए,
कैसे बचें दीन? प्रभु भी धनियों के गृह में बंद हुए।
अनाचार की कठिन आँच में अपमानित अकुलाते हैं,
जागो बोधिसत्व! भारत के 'हरिजन' तुम्हें बुलाते हैं।

जागो विप्लव के वाक! दंभियों के इन अत्याचारों से,
जागो, हे जागो, तपनिधान! दलितों के हाहाकारों से।
जागो, गाँधी पर किये गये नरपशु पतितों के वारों से,
जागो, मैत्री-निर्घोष! आज व्यापक युग-धर्म-पुकारों से।

जागो, गौतम! जागो, महान!
जागो, अतीत के क्रांति-गान!
जागो, धरती के धर्म तत्त्व!
जागो, हे जागो, बोधिसत्व!

९—हरबंस राय 'बच्चन'

'बच्चन' जी का निवास-स्थान प्रयाग है। आप हिन्दी के 'उमर खय्याम' हैं। आप हिन्दी में एक नए स्कूल के नेता हैं। वह है मधुशाला-वाद। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि भाषा बहुत ही सरल होती है, कल्पनाएँ क्लिष्ट नहीं होतीं और अस्पष्टता ढूँढ़े भी नहीं मिलती। कविताएँ ऐसी जान पड़ती हैं—मानों एक निश्छल हृदय के सीधे-सादे उद्गार हैं। कवि के हृदय में जब जो भाव-तरंग उठी निश्छलता और निर्भीकता से उसे सरल और सरस शब्दों में व्यक्त कर दिया है।

'बच्चन' की रचनाओं में मधु, प्याला, साकी और बाला का आधिक्य देखकर एक बड़े जन-समुदाय ने आपका घोर विरोध किया है। फिर भी अपने गुणों की बहुलता के कारण 'बच्चन' की कविता लोक-प्रिय होती जा रही है और उनके पाठकों की संख्या तेज़ी से बढ़ती जाती है।

'तेरा हार', 'मधुशाला,' 'मधुबाला,' 'मधु-कलश' आदि बच्चन के प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। इनकी कविताएँ अधिकतर 'सरस्वती', और 'विशाल भारत' में छपती हैं। आप बड़े ही होनहार कवि हैं।

लहरों का निमंत्रण

(कवि समुद्र के किनारे खड़ा है। वह संसार व्यथा से व्याकुल है। उसकी शांति का रहस्य इस लहराते हुए समुद्र के उस पार से लाना है। इसलिये आज वह नहीं रुक सकता है। वह संसार को शांति देनेवाला मार्ग ज़रूर ढूंढ निकालेगा। समुद्र पार ज़रूर जायगा। बीच में डूब भले ही जाय—प्रयत्न करते हुए—पर, किनारे पर खड़ा मुँह देखता न रहेगा। उसमें उमंग आयी है, उत्साह से कलेजा काँप रहा है, लहरें उसे निमन्त्रण दे रही हैं—बुला रही हैं—वह नहीं रुकेगा। समुद्र में कूदेगा। पार गया तब तो विश्व के वास्ते अमर सन्देश लायगा ही। नहीं तो लहरों में विलीन हो जायगा। नया जीवन पायगा। वह देख रहा है कि बहुत से बड़े-बड़े जहाज़ डूबे पड़े हैं, पर इससे वह निराश नहीं होता। अगर उसमें उतरने-वाले सभी जहाज़ डूब गये हों—तब भी वह रुक नहीं सकेगा। वह समुद्र में कूदेगा, नाव पर भी वह नहीं बैठेगा। आज लहरों से उलझने को इसकी भुजायें फड़क रही हैं। उसमें यौवन का उत्साह भरा है।)

तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण!

रात का अंतिम प्रहर है,
झिलमिलाते हैं सितारे,
वक्ष पर युग बाहु बाँधे
मैं खड़ा सागर किनारे।

वेग से बहता प्रभंजन
केश-पट मेरे उड़ाता,
शून्य में भरता उदधि
उर की रहस्यमयी पुकारें।

इन पुकारों की प्रतिध्वनि
हो रही मेरे हृदय में।

है प्रतिच्छायित जहाँ पर
सिंधु का हिल्लोल-कंपन,
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमंत्रण!

विश्व की संपूर्ण पीड़ा
सम्मिलित हो रो रही है,
शुष्क पृथ्वी आँसुओं से
पाँव अपने धो रही है,

इस धरा पर जो बसी दुनिया
यही अनुरूप उसके,
इस व्यथा से हो न विचलित
नींद सुख की सो रही है।

क्यों धरणि अब तक न गलकर
लीन जलनिधि में गई हो?

देखते क्यों नेत्र कवि के
भूमि पर जड़-तुल्य जीवन?
तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण!

जड़ जगत में वास कर भी
जड़ नहीं व्यवहार कवि का,
भावनाओं से विनिर्मित
और ही संसार कवि का।

बूँद के उच्छ्वास को भी
अनसुनी करता नहीं वह,
किस तरह होता उपेक्षा-
पात्र पारावार कवि का?

विश्व-पीड़ा से सुपरिचित
हो तरल बनने, पिघलने;

त्याग कर आया यहाँ कवि
स्वप्न लोकों के प्रलोभन;
तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण!

आज अपने स्वप्न को मैं
सच बनाना चाहता हूँ;
दूर की इस कल्पना के
पास जाना चाहता हूँ।

चाहता हूँ तैर जाना
सामने अंबुधि पड़ा जो,
कुछ विभा उस पार की
इस पार लाना चाहता हूँ।

स्वर्ग के भी स्वप्न भू पर
देख उनसे दूर ही था,

किंतु पाऊँगा नहीं कर
आज अपने पर नियंत्रण।
तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण!

लौट आया यदि वहाँ से
तो यहाँ नवयुग बसेगा;
नव-प्रभाती गान सुनकर
भाग्य जगती का जगेगा।

शुष्क जड़ता शीघ्र बदलेगी
सरस चैतन्यता में;
यदि न पाया लौट, मुझको
लाभ जीवन का मिलेगा।

स्थल गया है भर पथों से
नाम कितनों के गिनाऊँ;
स्थान बाकी है कहाँ पथ;
एक अपना भी बनाऊँ?

विश्व तो चलता रहा है
थाम राह बनी-बनाई;
किंतु इन पर किस तरह मैं
कवि-चरण अपने चढ़ाऊँ!

राह जल पर भी बनी है,
रूढ़ि पर न हुई कभी वह,

एक तिनका भी बना सकता
यहाँ पर मार्ग नूतन!
तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण!

देखता हूँ आँख के आगे
नया यह क्या तमाशा;
कर निकलकर दीर्घ जल से
हिल रहा करता मना-सा।

है हथेली-मध्य चित्रित
नीर-मग्न-प्राय बेड़ा।
मैं इसे पहचानता हूँ
है नहीं क्या यह निराशा?

हो पड़ी उद्दाम इतनी
उर उमंगें, अब न उनको

रोक सकता भय-निराशा का
न आशा का प्रवंचन;
तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण !

पोत अगणित इन तरंगों ने
डुबाए, मानता मैं;
पार भी पहुँचे बहुत-से—
बात यह भी जानता मैं।

किंतु होता सत्य यदि यह
भी, सभी जलयान डूबे,
पार जाने की प्रतिज्ञा
जान बरबस ठानता मैं।

डूबता मैं,—किंतु उतराता
सदा व्यक्तित्व मेरा

हों युवक डूबे भले ही,
है कभी डूबा न यौवन!
तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण!

आ रहीं प्राची क्षितिज से
खींचनेवाली सदाएँ;
मानवों के भाग्य निर्णायक
सितारो! दो दुआएँ।

नाव, नाविक फेर ले जा
है नहीं कुछ काम इसका,
आज लहरों से उलझने को
फड़कती हैं भुजाएँ,

प्राप्त हो उस पार भी
इस पार-सा चाहे अँधेरा,

प्राप्त हो युग की उषा
चाहे लुटाती नव-किरण-धन!
तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण!

कलियों से

(कवि और कली का उत्तर-प्रत्युत्तर है। कवि कहता है कि मैंने उसे बहुत दुःख दिया, तोड़ लिया, माला गूँथी, और अन्त में फेंक दिया। कली कहती है कि, नहीं; मैं उतने से ही धन्य हो गई। एक क्षण भी मुझे तुमने धारण किया, गले से लगाया। इसी में जीवन की सार्थकता है।)

अहे! मैंने कलियों के साथ—

जब मेरा चंचल बचपन था,
महा निर्दयी मेरा मन था—

अत्याचार अनेक किये थे,
कलियों को दुख दीर्घ दिये थे;
तोड़ इन्हें बागों से लाता,
छेद-छेदकर हार बनाता।

क्रूर कार्य यह कैसे करता!
सोच इसे हूँ आहें भरता।

कलियो! तुमसे क्षमा माँगते ये अपराधी हाथ।

"अहे! वह मेरे प्रति उपकार,

कुछ दिन में कुम्हला ही जाती,
गिरकर भूमि समाधि बनाती।

कौन जानता मेरा खिलना?
कौन, नाज से हिलना-डुलना?
कौन गोद में मुझको लेता?
कौन प्रेम का परिचय देता?

मुझे तोड़, की बड़ी भलाई,
काम किसीके तो कुछ आयी!

बनी रही दो-चार घड़ी तो किसी गले का हार!"

अहे! वह क्षणिक प्रेम का जोश!

सरस-सुगंधित थी तू जब तक,
बनी स्नेह-भाजन थी तब तक,
जहाँ तनिक-सी तू मुरझायी,
फेंक दी गयी, दूर हटयी।

इसी प्रेम से क्या तेरा हो जाता है परितोष?

"बदलता पल-पल पर संसार,

हृदय विश्व के साथ बदलता
प्रेम कहाँ फिर लहे अटलता ?
इससे केवल यही सोचकर,
लेती हूँ संतोष हृदय भर—

मुझको भी था किया किसी ने कभी हृदय से प्यार।"

मधुशाला

(१)

भावुकता - अंगूर - लता से
खींच कल्पना की हाला,
कवि बनकर है साकी आया
भरकर कविता का प्याला ।

कभी न कण भर खाली होगा,
लाख पिएँ, दो लाख पिएँ !

पाठक गण हैं पीनेवाले
पुस्तक मेरी मधुशाला ॥

(२)

मधुर भावनाओं की सुमधुर
नित्य बनाता हूँ हाला,
भरता हूँ इस मद से अपने
ही उर का प्यासा प्याला ।

उठा कल्पना के हाथों से
स्वयं इसे पी जाता हूँ,
अपने ही में हूँ मैं साकी,
पीनेवाला, मधुशाला ॥

(३)

धर्म-ग्रन्थ सब जला चुकी है,
जिसके अन्तर की ज्वाला,
मन्दिर, मस्जिद, गिरजे—सब को
तोड़ चुका जो मतवाला ।
पण्डित; मोमिन, पादरियों के
फंदों को जो काट चुका,
कर सकती है आज उसीका
स्वागत मेरी मधुशाला ॥

(४)

सूर्य बने मधु का विक्रेता,
सिंधु बने घट, जल हाला,
बादल बन बन आये साकी,
भूमि बने मधु का प्याला,

झड़ी लगाकर बरसे मदिरा,
रिमझिम-रिमझिम-रिमझिम कर,

वेलि, विटप, तृण बन में पीऊँ,
वर्षा ऋतु हो मधुशाला ॥

(५)

मुसलमान औ' हिन्दू हैं दो,
एक मगर उनका प्याला,
एक मगर उनका मदिरालय
एक मगर उनकी हाला ।

दोनों रहते एक न जब तक;
मन्दिर-मस्जिद में जाते;

लड़वाते हैं मंदिर मस्जिद,
मेल कराती मधुशाला ॥

मकरन्द

कबीर

जन्म सन् १३९९ में काशी में हुआ। समाधि सन् १५१८ में मगहर में हुआ।

कबीर के जन्म के सम्बन्ध में अनेक तरह के प्रवाद प्रचलित हैं। कहा जाता है कि काशी के नीरू नामक एक जुलाहे को गंगाजी के किनारे एक बच्चा मिला और उसने उस बच्चे को घर लाकर पाल-पोस कर बड़ा किया। यही बालक पीछे चलकर कबीर के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

बाल्य से कबीर में हिन्दू-भाव से भक्ति की प्रवृत्ति थी। इन्हें स्वामी रामानन्द जैसे विद्वान और साधक गुरु भी मिले। उन्होंने ही कबीर को रामनाम का उपदेश दिया। अपने गुरु की ही तरह ये भी महान साधक हुए।

कबीर के समय में हिन्दुस्तान में शंकराचार्य का अद्वैतमत और रामानुजी विशिष्टाद्वैत वैष्णव मत तथा हठयोगियों की साधना-पद्धति का काफ़ी प्रभाव था। मुसलमान राजाओं के सहारे ईरान की तरफ़ से कई फ़कीर भी यहाँ आ बसे थे। ये ईरान के सूफ़ी फकीर भी पहुँचे हुए साधक थे। इनकी महत्ता काफ़ी लोकप्रिय हो गयी थी। कबीर की प्रवृत्ति इन सभी के तत्त्वों को समझने की ओर हुई। इन जैसे साधक अवसर मिलने पर विद्वानों, ज्ञानियों और फ़कीरों की सत्संगति से लाभ उठाने से कब चूकनेवाले थे? इनके सत्संग से जिज्ञासु कबीर को जो अनुभव मिले उन्हें हम इनकी वाणी में पाते हैं।

कबीर की वाणी में इन चार तत्कालीन मुख्य शक्तियों का प्रभाव पड़ा है। वे ये हैं:—(१) अपने गुरु रामानंद से अद्वैतवाद का स्थूल रूप (२) रामानुजी वैष्णव संप्रदाय की अहिंसा वृत्ति (३) हठयोगियों का साधानात्मक रहस्यवाद, और (४) सूफ़ी संप्रदाय के मुसलमान फकीरों के सत्संग से "प्रेम तत्व"।

हिन्दुओं की दार्शनिक पद्धति में ज्ञान मार्ग ब्रह्म का निरूपण करता है। कबीर ने उसी ज्ञान मार्ग में सूफ़ियों का प्रेमतत्व और भावात्मक अनुभूति तथा उपासना पद्धति को मिलाया। हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद का भी उसमें समावेश कराकर वैष्णवों के अहिंसावाद को भी मिलाया। इन सब का सुन्दर समन्वय कबीर है।

कबीर के समय में भारतवर्ष के इतिहास में एक महान घटना घटी। सुसंगठित इस्लाम संप्रदाय ने आकर सनातन धर्म को एक बार झकझोर दिया। भारतीय धर्म जातिगत विशेषता को बनाये रखकर व्यक्तिगत धर्म साधना का पक्षपाती है और इस्लाम में जातिगत विशेषता के लिए स्थान नहीं, वह समूह-गत धर्म साधना का प्रचारक है। इस कारण इन दोनों की संस्कृतियों का समन्वय कैसे हो सकता था? दोनों तत्वत: एक दूसरे के बिलकुल विरोधी हैं। ऐसी विरोधी प्रवृत्तियों में संघर्ष हो रहा था। इससे जनता में अशांति फैली थी। ऐसी अवस्था में व्यक्तिगत धर्म का साधना मार्ग प्रधानत: आचार प्रधान हो गया जो केवल बाह्याडंबर मात्र में परिणत हुआ। इसी समय में नाथपंथियों के दार्शनिक मतवाद ने अशांत जनता को आचार-प्रवण धर्ममत की तरफ़ से अपनी ओर आकृष्ट किया। इस तरह से कबीर जैसे साधक को समाज व संस्कृति की सेवा करने के लिए क्षेत्र तैयार था।

कबीर ने समस्त बाह्याचार को अस्वीकार किया। उन्होंने बहुत-सी ऐसी बातें कही हैं जिनसे समाज-सुधार में सहायता मिलती है। सर्वधर्म समन्वय के लिए जिस ज़बरदस्त आधार की ज़रूरत है वह कबीर के पदों में हर कहीं है। वह आधार यह है—"भगवान् के प्रति निष्काम प्रेम और मनुष्य मात्र को समान मर्यादा का पात्र समझना।" बाह्याचार की निरर्थक पूजा और रूढ़िगत संस्कारों की गुलामी उन्हें पसंद नहीं थी। धर्म का आचार पक्ष और दर्शन पक्ष दोनों में सामंजस्य की स्थापना करने की ओर उनकी

प्रवृत्ति थी। और इसी लिए उन्होंने इस धार्मिक-द्वन्द्व को बिलकुल दूसरे ही दृष्टिकोण से देखा। उनका दृष्टिकोण यह था कि "यह निर्विवाद है कि दोनों धर्मावलंबी भगवान पर विश्वास रखते हैं और भगवान् एक है। अगर आदमी सचमुच ही धार्मिक है तो उसे यह बात माननी चाहिए। इसे मानने के बाद समाज में मानव-मानव में भिन्नता आ ही नहीं सकती।" बस, इसी अर्थ में कबीर हिन्दु-मुस्लिम एकता के विधायक थे। यही मानवता के लिए कबीर की देन है।

कबीर की वाणी का संग्रह इनके एक शिष्य धर्मदास ने किया है। यह "कबीर वचनावली" के नाम से प्रसिद्ध है। एक और संग्रह बीजक के नाम से प्रसिद्ध है। इसके तीन भाग हैं—रमैनी, सबद और साखी। इनकी 'साखी' बहुत लोकप्रिय है। 'रमैनी' और 'सबद' में गाने लायक पद हैं। इनकी भाषा परिष्कृत न होने पर भी खड़ी बोली के बिलकुल निकट है।

दोहे

धीरे धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सौ घड़ा, ऋतु आये फल होय ॥ १ ॥

कथनी मीठी खाँड़ सी, करनी विष की लोय।
कथनी तज करनी करै, तौ विष से अमृत होय ॥ २ ॥

सीलवन्त सब ते बड़ो, सर्व रतन की खान।
तीन लोक की संपदा, रही सील में आन ॥ ३ ॥

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित हुआ न कोय।
ढाई अच्छर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय ॥ ४ ॥

पाहन पूजें हरि मिलैं, तो मैं पूजौं पहार।
तातें या चाकी भली, पीस खाय संसार ॥ ५ ॥

जाति न पूछै साधु की, पूछि लीजिये ज्ञान।
मोल करो तरवार का, पड़ा रहन दो म्यान ॥ ६ ॥

भक्ति भाव भादों नदी, सबै चली घहराय।
सरिता सोई सराहिये, जेठ मास ठहराय ॥ ७ ॥

वृच्छ कबहुँ नहिं फल भखैं, नदी न संचै नीर।
परमारथ के कारने, साधुन धरा शरीर ॥ ८ ॥

हरि से जनि तू हेत कर, कर हरिजन से हेत।
माल-मुलुक हरि देत है, हरिजन हरि ही देत ॥ ९ ॥

साधू गाँठि न बाँधई, उदर समाता लेय।
आगे पीछे हरि खड़े, जब माँगे तब देय ॥ १० ॥

क्या मुख लै बिनती करौं, लाज लगत है मोहि।
तुम देखत औगुन करूँ, कैसे भावों तोहि ॥ १२ ॥

चाह गयी चिन्ता गयी मनुवाँ बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिए सो ही साहंसाह ॥ १२ ॥

गोधन गजधन बाजिधन और रतनधन खान।
जब आवै संतोषधन, सब धन धूर समान ॥ १४ ॥

साधु भया तो क्या भया, माला पहरी चार।
बाहर भेष बनाइया, भीतर भरी भँगार ॥ १५ ॥

साँच बरोबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप।
जाके हिरदै साँच है, ताके हिरदै आप ॥ १६ ॥

सबद

(१)

संतो देखहु जग बौराना ।
सांच कहौ तो मारन धावै, झूठै जग पतियाना ॥

नेमी देखे धरमीं देखे, प्रात करहि असनाना ।
आतम मारी पखानहिं पूजैं, उनमें कछू न ग्याना ॥

आसन मारि डिंभ धरि बैठें, मन में बहुत गुमाना ।
साखी सबदै गावत भूले, आतम-खबरि न जाना ॥

कइ हिन्दू मोहि राम पियारा, तुरुक कहै रहिमाना ।
आपस में दोउ लरि लरि मूए, मरम न काहू जाना ॥

कहत कबीर सुनो रे सन्तो, ये सब भरम-भुलाना ।
केतिक कहौं, कहा नहिं मानै, आपहि आप समाना ॥

(२)

संतो राह दोऊ हम डीठा ।
हिन्दू तुरुक हटा नहिं मानै, स्वाद सबन को मीठा ॥

हिन्दू बरत एकादसि साधै दूध सिंघाड़ा सेती ।
उनै को त्यागै मन नहिं हटकै पारन करै सगोती ।

रोजा तुरुक नमाज गुजारै बिसमिल बाँग पुकारै ।
उनकी भिस्त कहाँ तें होइ है साँझे मुरगी मारै ॥

हिन्दू दया मेहर को तुरुकन दोनों घट सों त्यागी
वै हलाल वै झटका मारैं आगी दुनों घर लागी ॥

हिन्दू तुरुक की एक राह है सद्गुरु इहै बताई ।
कहै कबीर सुनो हो सन्तो राम न कहेउ खोदाई ॥
अरे इन दोउन राह न पाई ।

———

नानक

जन्म सन् १४६९ में तिलवंडी गाँव में हुआ।

मरण सन् १५३९ में करतारपुर में हुआ।

गुरु नानक के पिता कालूचंद खत्री थे। ये लाहौर ज़िला शकरपुर तहसील के अंतर्गत तिलवंडी गाँव में कारिंदा थे। नानक का विवाह गुरुदास पुर के मूलचंद खत्री की कन्या से हुआ था और इनके दो पुत्र भी हुए।

ये बचपन से ही बड़े संत-स्वभाव के थे। इनके समय में पंजाब में इस्लाम का बोलबाला था। इस्लाम संस्कृति के साथ आर्य संस्कृति का संघर्ष हो रहा था। नानक से पहले कबीर ने सूफ़ियों के एकेश्वरवाद और प्रेममार्ग का स्थानिक अद्वैतवाद तथा निराकार उपासना के साथ समन्वय शुरू किया था। इस सांस्कृतिक संघर्ष के युग में कबीर का मार्ग नानक को भी अच्छा लगा और तत्कालीन समाज के लिये भी इससे फ़ायदा हो सकता था। हिन्दू-मुसलिम दोनों के लिये यह उपासना-पद्धति ग्राह्य था जिसे कबीर ने चलाया। इसी कारण से नानक ने इसे अपनाया। पंजाब में इसका प्रचार आरंभ किया। फलतः एक संप्रदाय की ही सृष्टि हुई। वह "सिख" कहलाया। इस संप्रदाय के प्रवर्तक और आदिगुरु यही थे। व्यक्तिगत साधना प्रधान आर्य धर्म का सामूहिक साधना प्रधान समाज के साथ संघर्ष होने से समन्वयात्मिका बुद्धि कुंठित हो गयी थी और इस वजह से विजेता और विजितों के बीच में मेल के बदले द्वेष की भावना उत्पन्न हो गयी। इन कारणों से इस 'सिख' संप्रदाय में थोड़ा-सा क्षात्र भी आ गया।

कबीर के समान ये भी कुछ पढ़े-लिखे न थे। भक्ति भाव से प्रेरित होकर जो भजन वे गाया करते थे उनका संग्रह "ग्रंथ साहब" में है जो अमृतसर के गुरुद्वारे में है। ये बिलकुल साधु प्रकृति के थे।

पद

(१)

भाई मैं केहि बिधि लखों गुसाईं ।
महा मोह अज्ञान तिमिर में, मन रहियो उरझाई ॥

सकल जनम भ्रम ही भ्रम खोयो, नहिं इस्थिर मति पाई ।
विषयासक्त रह्यो निसि बासर, नहिं छूटी अधमाई ।

साधु संग कहूं नहिं कीन्हा, नहिं कीरति प्रभु गाई ।
जन नानक में नाहीं कोउ गुन, राखि लेहु सरनाई ॥ १ ॥

(२)

काहे रे बन खोजन जाई ।
सर्व निवासी सदा अलेपा, तोही संग समाई ।
पुष्प मध्य ज्यों बास बसत है, मुकुर माहिं जस छाईं ॥

तैसे ही हरि बसै निरंतर, घट ही खोजो भाई ।
बाहर भीतर एकै जानो, यह गुरु ज्ञान बताई ॥
जन नानक बिन आपा चीन्हे, मिटै न भ्रम की काई ॥ २ ॥

(३)

जो नर दुख में दुख नहिं मानै ॥
सुख सनेह अरु भय नहिं जाके, कंचन माटी जानै ॥

नहिं निंदा नहिं अस्तुति जाके, लोभ मोह अभिमाना ।
हर्ष-शोक तें रहै नियारो, नाहिं मान अपमाना ॥

आसा, मनसा सकल त्यागि कै, जगतें रहै निरासा ।
काम क्रोध जेहिं परसै नाहिन, तेहिं घट ब्रह्म निवासा ॥

गुरु किरपा जेहिं नर पै कीन्हीं, तिन यह जुगति पिछानी ।
नानक लीन भयो गोविंद सो, ज्यों पानी सँग पानी ॥ ३ ॥

गोस्वामी तुलसीदास

जन्म सन् १५३२ में बान्दा ज़िला के राजापुर में हुआ।

गोलोकवास सन् १६२३ में काशीजी में हुआ।

मानस रचना सन् १५७४ में आरंभ हुई और सन् १५७७ में समाप्त हुई।

गोस्वामी जी के पिता आत्माराम दुबे और माता हुलसी थी। आप के बाल्यकाल के संबंध में कोई जानने लायक बात नहीं मिलती। कहा जाता है कि एक बाबा नरहरिदास ने बालक तुलसी को अपने पास रखकर पालन-पोषण किया और शिक्षा भी दी। इन्हीं गुरु से श्री रामचन्द्र की कथा सुनी थी। गोस्वामी जी अपने इस गुरु के साथ ही हमेशा रहते थे। एक बार बाबा नरहरिदास जब काशी आये तो ये भी उन्हीं के साथ काशी आये। यहाँ पंचगंगाघाट पर रामानंद स्वामी से भेंट हुई और गोस्वामी जी भी वहीं रामानंद स्वामी के साथ रहने लगे। इसी स्थान पर एक बहुत बड़े विद्वान शेषसनातनी से आपका परिचय हुआ। श्री शेष सनातनी से इन्होंने वेद-वेदांग, दर्शन, पुराण और इतिहास आदि का अध्ययन किया।

तुलसी के शील-स्वभाव और सद्गुणों से मुग्ध होकर यमुना तट के एक गाँव के ब्राह्मण ने अपनी पुत्री का विवाह इनसे कर दिया। यह तो प्रसिद्ध है ही कि पत्नी के उपदेश से ये संसार से विरक्त हुए और काशी में जाकर रहने लगे। वहाँ से फिर अयोध्या गये। वहाँ से फिर तीर्थ-यात्रा के लिये निकले। जगन्नाथपुरी, द्वारका, रामेश्वर आदि की यात्रा की और वहाँ से बदरिकाश्रम पहुँचे। फिर उधर से कैलास और मानसरोवर तक

पहुँचे। यात्रा से लौटने के बाद वे झाँसी ज़िले के पास चित्रकूट नामक स्थान में बहुत दिन तक रहे। यहाँ इन्हें साधु-संतों की सत्संगति में रहने तथा बड़े-बड़े विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ करने से ज्ञान-प्राप्ति हुई मगर सब से बड़ी चीज़ जो इस समय उन्हें यहाँ मिली वह थी लोक-संग्रह-बुद्धि। इसके बाद उन्होंने सन् १५७४ में रामचरितमानस की रचना का आरंभ किया; सन् १५७७ तक मानस पूरा लिख चुके। इसके अलावा और भी कई ग्रंथ प्रसिद्ध हैं जो हिन्दी काव्य जगत् के अमूल्य रत्न हैं।

वीरगाथा काल की काव्यवाहिनी के संकुचित क्षेत्र को विस्तृत बनाने का श्रेय श्री गोसाईं जी को है। साहित्य की भाषा में प्रचलित जनवाणी के संयोग से नया जीवन तुलसी जैसे सगुणोपासक कवियों के द्वारा प्राप्त हुआ और उसका श्रीगणेश तुलसी ने ही किया। तुलसी ने अपने समय में प्रचलित दोनों काव्य भाषाओं (अवधी और व्रज भाषा) पर बराबर अधिकार पाया था।

निर्गुणधारा के संतों की बानी ने लोकधर्म की अवहेलना की थी तो सगुणधारा की भारतीय पद्धति के भक्तों में, निर्गुणधारा के कबीर आदि के लोक-धर्म विरोधी स्वरूप को गोस्वामी जी ने पहचाना और इस निर्गुण संतवाणी से जनता की चित्तवृत्ति में भयंकर विकार हो जाने की संभावना का अनुभव किया।

अशिक्षित और अनधिकारी लोग वेदान्त के कुछ चलते शब्दों को लेकर बिना समझे-बूझे लौकिक कर्तव्यों की तरफ़ से सामान्य जनता को विमुख करने की कोशिश कर रहे थे। इससे मानवता का कल्याण नहीं हो सकता। नाथ-पंथी हठयोगियों के साधना-मार्ग में हृदय पक्ष के लिये स्थान न रहा। हृदय की रागात्मिका-वृत्ति के साथ अगर लोकमत का समन्वय नहीं होगा तो वह साधना-मार्ग जनता के लिये ग्राह्य नहीं हो सकता।

इसी बुनियाद पर गोस्वामी जी ने अपनी सर्वग्राह्या भक्ति-पद्धति का महल खड़ा किया। लोकधर्म और भक्ति साधना को एक में सम्मिलित करके कर्म, ज्ञान और उपासना के बीच में सामंजस्य स्थापित किया। लोक व्यापक और जगत् कल्याणकारी सौंदर्य की प्रतिष्ठा भक्ति में की। इसीसे "मानस" सार्वजनिक और सार्वदेशिक बना। यही संक्षेप में तुलसी का व्यक्तित्व है।

पद

(१)

जानत प्रीति रीति रघुराई ।
नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई ।
नेह निबाहि देह तजि दसरथ कीरति अचल चलाई
ऐसे हू पितु तें अधिक गीध पर ममता गुन गरुआई ।
तिय विरही सुग्रीव सखा लखि प्रानप्रिया बिसराई
रन पर्यो बन्धु विभीषन ही को सोच हृदय अधिकाई ।
घर, गुरु-गृह, प्रिय-सदन, सासुरे, भई जब जहँ पहुनाई
तब तहँ कहिं सबरी के फलन की रुचि माधुरी न पाई ।
सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई
केवट मीत कहे सुख मानत वानर बन्धु बड़ाई ।
तुलसी राम सनेह सील लखि जो न भगति उर आई
तौ तोहिं जनमि जननी जड़ तनु तरुनता गँवाई ।

(२)

कबहुँक अंब अवसर पाइ ।
मेरि औ' सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ ।

दीन सब अंगहीन छीन मलीन अघी अघाइ ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु दासी दास कहाइ ॥
बूझि हैं "सो है कौन ?" कहिबी नाम दसा जनाइ ।
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगारऔ बनि जाइ ॥
जानकी जग-जननि जन की किये बचन सहाइ ।
तरै तुलसीदास भव तव नाथ गुन गन गाइ ॥

राम विवाह

कह मुनि सुनु नरनाथ प्रबीना
रहा विवाह चाप आधीना।
टूटतही धनु भयेउ विवाहू
सुर नर नाग विदित सब काहू ॥ १ ॥

पहुँचे दूत रामपुर पावन
हरषे नगर बिलोकि सुहावन।
भूप द्वार तिन्ह खबरि जनाई
दसरथ नृप सुनि लिए बोलाई ॥ २ ॥

करि प्रनाम तिन्ह पाती दीन्ही
मुदित महीप आपु उठि लीन्ही।
बारि विलोचन बाँचत पाती
पुलक गात आई भरि छाती ॥ ३ ॥

तब नृप दूत निकट बैठारे
मधुर मनोहर वचन उचारे ।
भैया कहहु कुसल दोउ बारे
तुम्ह नीके निज नयन निहारे ॥ ४ ॥

दो०—सुनहु महीपति मुकुटमनि तुम्ह सम धन्य न कोउ।
राम लषन जिन्हके तनय बिस्व बिभूषन दोउ ॥ १ ॥

देव देखि तव बालक दोऊ
अब न आँख तर आवत कोऊ।
दूत वचन रचना प्रिय लागी
प्रेम प्रताप वीर-रस पागी ॥ ५ ॥

दो०—तब उठि भूप बसिष्ठ कहँ दीन्हि पत्रिका जाइ।
कथा सुनाई गुरुही सब सादर दूत बोलाइ ॥ २ ॥
सो०—जाचक लिये हँकारि दीन्हि निछावरि कोटि बिधि।
चिरजीवहु सुत चारि चक्रवर्ति दसरत्थ के ॥ ३ ॥

भूप भरत पुनि लिये बोलाई
हय गज स्यंदन साजहु जाई।
चलहु बेगि रघुबीर बराता
सुनत पुलक पूरे दोउ भ्राता ॥ ६ ॥

दो०—चढ़ि चढ़ि रथ बाहिर नगर लागी जुरन बरात।
होत सगुन सुन्दर सबन्हि जो जेहि कारज जात ॥ ४ ॥

बाहन अपर अनेक विधाना
सिबिका सुभग सुखासन जाना।

तिन्ह चढ़ि चले बिप्र बर वृन्दा
जनु तनु धरे सकल श्रुति छंदा ॥ ७ ॥
दो०—आवत जानि बरात वर सुनि गहगहे निसान ।
सजि गज रथ पदचर तुरग लेन चले अगवान ॥ ५ ॥
मंगल सगुन सुगंध सुहाये
बहुत भाँति महिपाल पठाये ।
दधि चिउरा उपहार अपारा
भरि भरि काँवरि चले कहारा ॥ ८ ॥
अगवानन्ह जब दीखि बराता
उर आनंदु पुलक भर गाता ।
देखि बनाव सहित अगवाना
मुदित बरातिन्ह हने निसाना ॥ ९ ॥
प्रेम समेत राय सबु लीन्हा
भइ बकसीस जाचकन्हि दीन्हा ।
करि पूजा मान्यता बड़ाई
जनवासे कहँ चले लेवाई ॥ १० ॥
बसन बिचित्र पाँवड़े परहीं
देखि धनद धन मद परिहरहीं ।
अति सुन्दर दीन्हेउ जनवासा
जहँ सब कहँ सब भाँति सुपासा ॥ ११ ॥

पितु आगमन सुनत दोउ भाई
हृदय न अति आनंदु अमाई ।
सकुचन्ह कहि न सकत गुरु पाहीं
पितु दरसन लालचु मनु माहीं ॥ १२ ॥

विस्वामित्र बिनय बड़ि देखी
उपजा उर संतोष बिसेखी ।
चले जहाँ दसरथ जनवासे
मनहु सरोवर तकेउ पियासे ॥ १३ ॥

दो०—भूप विलोके जबहिं मुनि आवत सुतन्ह समेत ।
उठेउ हरषि सुखसिंधु महुँ चले थाह सी लेत ॥ ६ ॥

मुनिहिं दंडवत कीन्ह महीसा
बार बार पदरज धरि सीसा ।
कौसिक राउ लिये उर लाई
कहि असीस पूँछी कुसलाई ॥ १४ ॥

पुनि दंडवत करत दोउ भाई
देखि नृपति उर सुख न समाई ।
सुत हिय लाइ दुसह दुखु मेटे
मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे ॥ १५ ॥

सुतन्ह समेत दसरथहि देखी
मुदित नगर नरनारि बिसेखी।
पुनि देखब रघुबीर बिवाहू
लेव भली बिधि लोचन लाहू ॥ १६ ॥

दो०—रामु सीय सोभा अवधि सुकृत अवधि दोउ राज।
जहँ तहँ पुरजन कहहिं अस मिलि नरनारि समाज ॥ ७ ॥

कहत राम जसु बिसद बिसाला
निज निज भवन गए महिपाला।
गए बीति कछु दिन एहि भाँती
प्रमुदित पुरजन सकल बराती ॥ १७ ॥

मंगलमूल लगन दिनु आवा
हिमऋतु अगहन मासु सुहावा।
ग्रह तिथि नखतु जोग वर वारू
लगन सोधि बिधि कीन्हि विचारू॥ १८ ॥

दो०—धेनु धूलि बेला बिमल सकल सुमंगल मूल।
विप्रन्ह कहेउ विदेह सन जानि सगुन अनुकूल ॥ ८ ॥

संख निसान पनव बहु बाजे ३५
मंगल कलस सगुन सुभ साजे।

सुभग सुआसिनि गावहिं गीता
करहिं वेदधुनि विप्र पुनीता ॥ १९ ॥

लेन चले सादर एहि भाँति
गए जहाँ जनवास बराती ।
कोसलपति कर देखि समाजू
अति लघु लाग तिन्हहि सुरराजू ॥ २० ॥

प्रेम पुलक तन हृदय उछाहू
चले बिलोकन राम बिआहू ।
देखि जनकपुर सुर अनुरागे
निज निज लोक सबहि लघु लागे ॥ २१ ॥

दो०—एहि भाँति जानि बरात आवत बाजने बहु बाजहीं ।
रानी सुआसिनि बोलि परिछन हेतु मंगल साजहीं ॥ ९ ॥

दो०—सजि आरती अनेक बिधि, मंगल सकल सवाँरि ।
चलीं मुदित परिछन[१] करन, गजगामिनि वर नारि ॥ १० ॥

सकल सुमंगल अंग बनाए
करहिं गान कलकंठ लजाए ।
कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिं
चाल बिलोकि काम गज लाजहिं ॥ २२ ॥

छंदः— बैठारि आसन आरती करि निरखि बरु सुख पावहीं।
मनि बसन भूषन भूरि बारहिं नारि मंगल गावहीं॥
ब्रह्मादि सुरवर विप्र वेष बनाइ कौतुक देखहीं।
अवलोकि रघुकुल कमल रवि छबि सुफल जीवन लेखहीं॥ १॥

पूजे भूपति सकल बराती
समधी सम सादर सब भाँती।
आसन उचित दिए सब काहू
कहौं कहा मुख एक उछाहू॥ २३॥

दो०—सोहति बनिता वृन्द महुँ सहज सुहावनि सीय।
छबि ललना-गन मध्य जनु सुखमा तिय कमनीय॥ ११॥

एहि विधि सीय मंडपहिं आई
प्रमुदित सांति पढ़हिं मुनिराई।
तेहि अवसर कर विधि व्यवहारू
दुहुँ कुलगुरु सब कीन्ह अचारू॥ २४॥

छंदः—आचार करि गुरु गौरि गनपति मुदित विप्र पुजावहीं।
सुर प्रगटि पूजा लेहिं देहिं असीस अति सुख पावहीं॥
मधुपर्क मंगलद्रव्य जो जेहि समय मुनि मन महुँ चहैं।
भरे कनक कोपर कलस सो तब लिये परिचारक रहैं॥ २॥

दो०—होम समय तनु धरि अनलु अति सुख आहुति लेहि।
विप्र वेष धरि वेद सब कहि विवाह विधि देहि॥

प्रमुदित मुनिन्ह भावँरी फेरी
नेग सहित सब रीति निबेरी।
राम सीय सिर सेंदुर देहीं
सोभा कहि न जात बिधि केहीं॥ २५॥

दो०—मुदित अवधपति सकल सुत बन्धुन्ह समेत निहारि।
जनु पाये महिपाल मनि क्रियन्ह सहित फल चारि॥ १३॥

पुनि जेवनार भई बहु भाँती
पठये जनक बोलाइ बराती।
परत पाँवड़े बसन अनूपा
सुतन्ह समेत गवन किय भूपा॥ २६॥

सादर सब के पाय पखारे
जथाजोग पीढ़न बैठारे।
धोये जनक अवधपति चरना
सील सनेह जाइ नहिं बरना॥ २७॥

आसन उचित सबहि नृप दीन्हे
बोलि सूपकारक सब लीन्हे।

सादर लगे परन पनवारे
कनक कील मनि पान सँवारे ॥ २८ ॥

पांच कौर करि जेवन लागे
गारि गान सुनि अति अनुरागे ।
भाँति अनेक परे पकवाने
सुधा सरिस नहिं जाहि बखाने ॥

समय सुहावनि गारि बिराजा
हँसत राउ सुनि सहित समाजा ।
एहि बिधि सबही भोजन कीन्हा
आदर सहित आचमन लीन्हा ॥ ३० ॥

दो०—देइ पान पूजे जनक दसरथ सहित समाज ।
जनवासे गवने मुदित सकल-भूप-सिरताज ॥ १४ ॥

दो०—बार बार कौसिक चरन सीस नाइ कह राउ ।
यह सब सुख मुनिराज तव कृपा कटाच्छ प्रभाउ ॥ १५ ॥

बहुत दिवस बीते एहि भाँती
जनु सनेह रजु बँधे बराती ।
कौसिक सतानंद तब जाई
कहा बिदेह नृपहि समुझाई ॥ ३१ ॥

दो०—तेहि अवसर भाइन्ह सहित राम भानुकुल-केतु।
चले जनक मंदिर मुदित बिदा करावन हेतु ॥ १६ ॥

दो —रूपसिंधु सब बन्धु लखि हरषि उठेउ रनिवासु।
करहिं निछावरि आरती महामुदित मन सासु ॥ १७ ॥

छंदः—करि विनय सिय रामहिं समरपी जोरि कर पुनि पुनि कहै।
बलि जाउँ तात सुजान तुम्ह कहँ बिदित गति सब की अहै॥
परिवार पुरजन मोहि राजहि प्राण प्रिय सिय जानबी।
तुलसी सुसील सनेह लखि निज किंकरी करि मानबो ॥ ३ ॥

महात्मा सूरदास

आपका जन्म सन् १४८३ में और गोलोकवास सन् १५६३ में हुआ।

सूरदास जी के जन्म तथा उनके जीवन का कोई प्रमाणिक वृत्तांत नहीं मिलता है। इसलिए हम इस भक्त शिरोमणि सूरदास का परिचय आरंभ से देने में असमर्थ हैं। यह निश्चित है और विद्वानों की भी यही राय है कि आप वल्लभाचार्य के शिष्य थे और गुरु की आज्ञा से ही आपने श्रीमद्भागवत को पदों में गाया जो सूर-सागर के नाम से प्रसिद्ध है और जो गीति-काव्य का एक पूर्ण विकसित रूप-सा लगता है। अस्तु ;

वल्लभाचार्य के बाद उनके पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ जी गुरु-गद्दी पर बैठे। आपने तब तक के वल्लभ संप्रदाय के कृष्णभक्त कवियों में से सर्वश्रेष्ठ आठ कवियों को चुनकर "अष्टछाप" की स्थापना की। इन 'अष्टछाप' के कवियों में हमारे 'भक्तशिरोमणि सूरदास जी थे। आप पर अपने गुरु वल्लभाचार्य जी की विद्वत्ता और व्यक्तित्व का गहरा असर पड़ा था। वल्लभाचार्य जी कृष्णभक्ति की एक विशिष्ट-पद्धति के प्रवर्तक थे। सूर को ऐसे एक विचारशील विद्वान साधक के शिष्य बनने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ। साथ ही भगवान ने इन्हें भक्तिधन भी देकर दुनियाँ में भेजा था। मानव जीवन की कोई ऐसी मधुर भावना नहीं, जिसमें सूर की प्रखर-बुद्धि प्रवेश नहीं कर सकी हो। इसलिए विद्वानों ने सूर को "सूर" कहा।

गुरु वल्लभ की विद्वत्ता के प्रभाव से प्रभावित होने पर भी सूर का हृदय भोले बच्चे का था। राधा-माधव की रतिलीला का वर्णन भी सूर ने किया है। मगर कहीं भय शंका और विरह जन्य पीड़ा आदि उत्तेजक भावनाएँ नहीं है। भक्त का हृदय भगवान के विरह से जिस तरह के

दुख का अनुभव करता है वही हमें सूर में मिलता है। इस भक्त के लिए कृष्ण एक खिलौना हो गया है। जैसा बच्चा गुड़िये को सजाना, संवारना चाहता है वैसा बालकृष्ण को सूरने सजाया है। कहीं माँ यशोदा का वात्सल्य है तो कहीं उद्धव की निष्ठा है; कहीं राधा का निर्विकार प्रेम संगीत है तो कहीं गोपियों का आर्तराग है। यही सूर का काव्य-क्षेत्र है।

साहित्य के विद्यार्थी के लिए और साहित्यालोचक के लिए यह अध्ययन व अनुशीलन करने की चीज़ है।

महात्मा सूरदास के पद

१

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै ।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी, फिरि जहाज पै आवै ॥

कमल-नयन को छाँड़ि महातम और देव को ध्यावै ।
परम गंग को छाँड़ि पियासो दुर्मति कूप खनावै ॥

जिन मधुकर अंबुज रस चाख्यो क्यों करील फल खावै ।
"सूरदास" प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै ॥

२

चोरी करत कान्ह धरि पाये ।
निसि-बासर मोहि बहुत सतायो, अब हरि हाथहि आये ॥
माखन-दधि मेरो सब खायो, बहुत अचगरी* कीन्ही ।
अब तौ आइ परे हौ, लालन, तुम्हें भले मैं चीन्हो ॥
दोउ भुज पकरि कह्यौ, कित जैहौ, माखन लेउँ मँगाइ ।
तेरी सौं, मैं नेकु न खायो, सखा गये सब खाइ ॥
मुख तन चितै, बिहँसि, हँसि दीन्हो, रिस तब गयी बुझाइ ।
लियो उर लाइ ग्वालिनी हरि को, 'सूरदास' बलि जाइ ॥

*अचगरी - छेड़छाड़

३

मैया मेरी, मैं नहिं माखन खायो ।
भोर भये गैयन के पाछे मधुवन मोहि पठायो ।

चार पहर बंसीबट भटक्यौ साँझ परे घर आयो ।
मैं बालक बहिंअनको छोटो छीको केहि विधि पायो ।

ग्वाल-बाल सब बैर परे हैं, बरबस मुख लपटायो ।
तू जननी मनकी अति भोरी, इनके कहे पतियायो ।

जिय तेरे कछु भेद उपजि है, जानि परायो जायो ।
यह ले अपनी लकुट कमरिया, बहुतहिं नाच नचायो ।
'सूरदास' तब विहँसि जसोदा, लै उर कंठ लगायो ॥

४

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो ।
मोसों कहत—मोल को लीनो, तोहि जसुमति कब जायो ?

गोरे नंद, जसोदा गोरी; तुम कत स्याम सरीर ?
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब सिखै देत बलबीर ॥

सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही को धूत ।
'सूर' स्याम मोहिं गोधन की सौं हौं माता तू पूत ॥

५

कह्यो कान्ह, सुनि जसुमति मैया ।
आवहिंगे दिन चारि-पाँच में हम हलधर दोउ भैया ।।

मुरली बेंत बिखान देखियो सींगी बेर*-सबेरो ।
लै जिनि जाइ चुराइ राधिका कछुक खिलौना मेरो ।।

जा दिन में तुमसों बिछुरे हम, कोउ न कहत कन्हैया ।
भोरहि नाहिं कलेऊ कीन्हो, साँझ न पय पियो धैया ।।

कहत न बन्यौ सँदेसो मोपै - जननि जितो दुख पायो ।
अब हम सों वसुदेव-देवकी कहत आपनो जायो ।।

कहिये कहा नंद-बाबा सों, बहुत निठुर मन कीन्हो ।
सूर हमहिं पहुँचाइ मधुपुरी बहुरौ सोंध न लीन्हो ।।

---

*बेर - समय

ख़ानख़ाना अब्दुर्रहीम

आपका जन्म सन् १५५३ में और अवसान सन् १६२६ में हुआ।

अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना बादशाह अकबर के अभिभावक बैरामख़ाँ सरदार के बेटे थे। जन्म से धनी तो थे ही। बहुत बड़े विद्याप्रेमी भी थे। आपने संस्कृत, अरबी और फ़ारसी में बराबर अधिकार पाया था। स्वभाव से बड़े दानी थे। आपको अकबर बादशाह के मंत्री बनने का भी श्रेय प्राप्त था। आपने मुग़ल साम्राज्य को बढ़ाने में काफ़ी वीरता दिखलायी और साम्राज्य को मज़बूत करने के लिए बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ लड़ीं; विजय भी पायी।

भारतीय संस्कृति ने एक इस्लाम के अनुयायी को कहाँ तक अपना लिया था इसका एक सुंदर सजीव उदाहरण है रहीम। जहाँ अच्छाई देखी उसे अपनाना मानव-मात्र का कर्तव्य है; अच्छाई की परख जाति विशेष को लेकर नहीं होती। वह स्वाभाविक है और उसे निष्पक्षपात हृदय ही पहचान सकता है। ख़ानख़ाना ने ऐसा ही हृदय पाया था। इस्लाम भी कितना उदार और विशाल है—इस बात का प्रमाण ख़ानख़ाना ने अपने जीवन से दिखा दिया।

मुग़ल सम्राट के दरबार में ऊँचे ओहदे पर रहकर आपने अधिकार का रसास्वादन किया; अमीरी में ज़िन्दगी का लुत्फ़ उठाया और ग़रीबी का भी मज़ा चखा। इससे आपका अनुभव सर्वतोमुखी हुआ। इसी से जीवन की सच्ची परिस्थितियों के मार्मिक रूप को ग्रहण करने में आपको कल्पना का सहारा नहीं लेना पड़ता था। आपके दोहों में इसी व्यावहारिक सत्य की अभिव्यंजना साफ़ दिखाई पड़ती है।

आप ऊँचे दर्जे के साहित्यक भी थे; व्रज और अवधी भाषाओं पर भी आपका समान अधिकार था।

रहीम

दीन सबन को लखत है, दीनहिं लखै न कोय ।
जो रहीम दीनहिं लखै, दीनबन्धु सम होय ॥ १ ॥

जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग ।
चन्दन विष व्यापत नहीं, लपटे रहत भुजंग ॥ २ ॥

रहिमन लाख भली करौ, अगुनी अगुन न जाय ।
राग सुनत पय पियत हू ; साँप सहज धरि खाय ॥ ३ ॥

बिगरी बात बनै नहीं, लाख करो किन कोय ।
रहिमन बिगरे दूध को, मथे न माखन होय ॥ ४ ॥

रहिमन जिह्वा बावरी, कहि गयी सरग-पताल ।
आपु तो कहि भीतर रही, जूती खात कपाल ॥ ५ ॥

माँगे घटत रहीम पद, कितौ करौ बढ़ि काम ।
तीन पैग वसुधा करी, तऊ बावनै नाम ॥ ६ ॥

बसै बुराई जासु तनु, ताहो को सनमानु ।
भलौ भलौ कहि छोड़ियै, खोटैं ग्रह जपु, दानु ॥ ७ ॥

रहिमन प्रीति न कीजिए, जस खीरा ने कीन ।
ऊपर से तो दिल मिला, भीतर फाँके तीन ॥ ८ ॥

रहिमन निज मन की बिथा, मनही राखो गोय ।
सुनि अठिलैहैं लोग सब, बाँटि न लैहै कोय ॥ ९ ॥

धनि रहीम जल पंकको, लघु जिय पियत अघाय ।
उदधि बड़ाई कौन है, जगत पिआसो जाय ॥ १० ॥

आप न काहू काम के डार पात फल मूर ।
औरन हू रोकत फिरै रहिमन कूर बबूर ॥ ११ ॥

फरजी न साह न ह्वै सकै गति टेढ़ी तासीर ।
रहिमन सीधी चाल सों प्यादो होत वजीर ॥ १२ ॥

रहिमन अपने गोत को, सबै चहत उत्साह ।
मृग उछरत आकाश को, भूमी खनत बराह ॥ १३ ॥

जो रहीम गति दीप की, सुत सुपूत की सोय ।
बड़े उजेरो तेहि रहे, गए अंधेरो होय ॥ १४ ॥

एक साधे सब सधै, सब साधे सब जाय ।
रहिमन मूलहिं सींचिबो, फूलै फलै अघाय ॥ १५ ॥

कविवर बिहारीलाल

आपका जन्म सन् १६०३ में और परलोकवास सन् १६६३ में हुआ।

आप मथुरा के चौबे कहे जाते हैं। आपका बाल्यकाल बुंदेलखंड में और युवाकाल अपनी ससुराल मथुरा में बीता। आप जयपुर के राजा महाराज जयसिंह के दरबार में रहा करते थे।

भक्तिकालीन साहित्य के बाद जो साहित्य हमें हिन्दी में उपलब्ध होता है वह रीतिकालीन साहित्य है। महाकवि बिहारीलाल भी इसी रीतिकालीन परंपरा के कवि-श्रेष्ठ हैं। आप "सतसई" के निर्माता हैं जो हिन्दी साहित्य का गौरव है। "सतसई" केवल भाषा ही की दृष्टि से नहीं, भाव की दृष्टि से भी प्रौढ़ है। कोई भी "सतसई" को पढ़ेगा, उसकी अवश्य ही यह धारणा हो जायगी कि इतनी भावाभिव्यंजना कर सकनेवाली भाषा इस काव्य के सृष्टि-काल तक कितनी क्षमता रखती होगी। हिन्दी का रीतिकाल, भक्तिकाल की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील था। भक्ति-काल के साहित्य में हम यदि भक्तों की अनर्गल, भक्ति भाव से सराबोर वाणी की ज़ोरदार धारा को पाते हैं तो रीतिकाल में साहित्य के भावात्मक अंगों का वर्गीकरण व लक्षणों का स्पष्टीकरण पाते हैं। साहित्य के विद्यार्थी के लिए यह काल बहुत ही महत्व का है, जिसने लोकभाषा द्वारा जन सामान्य के सामने लाक्षणिक तत्वों को रखा। अलंकार, रस, छंद आदि के द्वारा मानव-मन की सब प्रवृत्तियों को चेतनता देकर भक्तिकाल के एकांगीण साहित्य को सर्वांग-सुंदर बनाने की कोशिश की, इन रीतिकालीन साहित्यकों ने।

कविवर केशवदास जी इसी दर्जे के कवि थे जो मानसकार तुलसी के समकालीन थे। बीच में बिहारी के समय तक साहित्य का यह अंग पंगु हो गया था, या यों कहिये कि रसराज श्रृंगार का आश्रय लेकर कविगण मनमाना अश्लील, साहित्य में भरने लगे थे जो भारतीय नैतिकता के लिए अग्राह्य था।

'सतसई' कार ने इस श्रृंगार को भक्ति कालीन भाव-परंपरा के साथ मिलाकर पवित्र बनाये रखा। हृदय की रागात्मिका वृत्ति को इससे आश्रय मिला और लौकिक प्रेम की सीढ़ी से होकर पारलौकिक प्रेम को पाने का मार्ग प्रशस्त हुआ।

छोटे छोटे दोहों में गूढ़ से गूढ़ भावों को भर दिया है बिहारी ने, इसी बात को लेकर "गागर में सागर" वाली कहावत चल पड़ी। सात सौ दोहोंने हिन्दी साहित्य की चूड़ामणि का काम किया और सतसईकार बिहारी को अमर बनाया।

बिहारी

ओछे बड़े न ह्वै सकैं, लगौ सतर ह्वै गैन;
दीरघ होहिं न नैंक हूँ फारि निहारैं नैन ॥ १ ॥

बुरौ बुराई जौ तजै, तौ चितु खरौ डरातु;
ज्यों निकलंकु मयंकु लखि गनैं लोग उतपातु ॥ २ ॥

समैं समैं सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै तित तेती रुचि होइ ॥ ३ ॥

कैसे छोटे नरन तें सरत बड़नि के काम।
मढ़्यौ दमामा जात है लै चूहे के चाम ॥ ४ ॥

कहत सबै स्रुति सुमृति हू, सबै सयाने लोग।
तीन दबावत निसँकहीं, पातक, राजा, रोग ॥ ५ ॥

बड़े न हूजै गुननि बिनु, बिरद बड़ाई पाय।
कहत धतूरे सो कनकु, गहनौ गढ़्यौ न जाय ॥ ६ ॥

कहा कुसुम, कह कौमुदी, कितक आरसी-जोति?
जाकी उजराई लखैं आँखि ऊजरी होति ॥ ७ ॥

तंत्री-नाद कबित्त रस, सरस राग रति-रंग।
अनबूड़े बूड़े, तरे जे बूड़े सब अंग ॥ ८ ॥

मोर मुकुट की चंद्रिकनि, यौं राजत नँद-नंद।
मनु ससिसेखर की अकस किय सेखर सत चंद ॥ ९ ॥

जात जात बितु होत है, ज्यों जिय मैं संतोखु।
होत होत जौ होय तौ, होय घरी में मोखु ॥ १० ॥

अरे हंस या नगर में, जैयो आप बिचारि।
कागनि सों जिन प्रीति करि,को किल दई बिड़ारि ॥ ११ ॥

ज्यो चाहौ चटक न घटै, मैलो होय न मित्त।
रज राजस न छुवाइये, नेह चीकने चित्त ॥ १२ ॥

इन दुखिया अँखियान को, सुख सिरजोई नाँहि।
देखत बनै न देखतै, बिन देखे अकुलाँहि ॥ १३ ॥

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोय।
ज्यों ज्यों बूड़ै श्याम रँग, त्यों त्यों उज्जल होय ॥ १४ ॥

बढ़त बढ़त संपति सलिल, मन सरोज बढ़ि जाइ।
घटत घटत पुनि ना घटै, बरु समूल कुम्हलाइ ॥ १५ ॥

रसखान

आपका जन्म सन् १५५८ में और मरण सन् १६२८ में हुआ।

आपके बाल्य-जीवन के संबंध में कोई प्रमाणिक वृत्तांत नहीं मिलता। ख़ुद रसखान ने अपने को शाही ख़ानदान का बतलाया है। यह मामूली पढ़े-लिखे थे। इन्हें भारतीय भक्तों की भक्ति-पद्धति ने अपनी तरफ़ आकृष्ट किया। ये रहते देहली में थे।

ये भगवान् कृष्ण के अनन्य भक्त थे। इनकी इस भक्ति के कारण गोस्वामी विट्ठलनाथ ने इन्हें अपना शिष्य बनाया। दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता में इनका वृत्तांत है। आपने अपनी भक्ति-भावना को बहुत ही मधुर-रूप दिया है, अपने पदों में। राधा-माधव का संयोग-पक्ष इनकी भक्ति की आधार-शिला है।

प्रेम के संयोग पक्ष को लेने से इनकी भक्ति में एक ऐसी विशेषता आ गयी जो उस समय के भक्तों से भिन्न थी। श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों के हृदय में जो विरह-जन्य वेदना थी इस वेदना में रसखान का भावुक हृदय इतना घुल-मिल गया कि उसके लिए गोपियों का यह विरह सहना असाध्य हो गया। इसी से वियोग पक्ष से संयोग पक्ष उनको अच्छा जँचा।

गोपियों के विरह में कृष्ण की सत्ता का अनुभव कर "सत्" का उस सत्ता को स्थायी बनाने में "चित्" का और "सत्" व "चित्" के ऐक्य साधन में "आनंद" का अनुभव करना ही आनन्दमय बनना है। यही भारतीय चिन्तन का चरम-विकास है, और यही भारतीय विचारधारा

का सार-सर्वस्व है। इसी सार-सर्वस्व सच्चिदानंद मूर्ति को प्राप्त कर रसखान का हृदय आनन्द की लहरों से तरंगलोल हो गया। कभी भक्तों से अलग न होनेवाले प्रेम मूर्ति भगवान् का आश्रय लेने से रसखान को जुदाई की जलन का अनुभव करना ही नहीं पड़ा। यही रसखान की कविता है।

रसखान

१

मानुष हौं तो वही रसखानि, बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तौ कहा बसु मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन ॥
पाहन हौं तौ वही गिरि को, जो धर्यो कर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तौ बसेरो करौं, मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन ॥

२

धूर भरे अति शोभित स्यामजू, तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।
खेलत खात फिरैं अँगना पग पैंजनी बाजती पीरी कछोटी ॥
वा छबि को 'रसखानि' बिलोकत वारत काम कला निज कोटी।
काग के भाग बड़े सजनी हरि हाथ सों लै गयो माखन रोटी ॥

३

दानी भये नये मांगत दान हौ, जानि है कंस तौ बंधन जैहौ।
*छूटे छरा बछरादिक गोधन, जो धन है सो सबै धन दैहौ ॥
रोकत हौ बन में 'रसखानि' चलावत हाथ घनो दुख पैहौ।
जैहै जो भूषण काहु तिया को, तो मोल छला के लला न बिकैहौ ॥

*छरा - रस्सी

४

आपनो सो ढोटा हम सबहीं को जानत हैं,
दोऊ प्रानी सबही के काज नित धावहीं।
ते तौ 'रसखानि' अब दूर ते तमासो देखैं,
तरनि-तनूजा के निकट नहिं आवहीं॥
आन दिन बात अनहितुन सों कहौं कहा,
हितू जेऊ आए ते ये लोचन दुरावहीं।
कहा कहौं आली खाली देत सब ठाली* पर,
मेरे बनमाली कौन काली ते छुड़ावहीं॥

---

* ठाली = सांत्वना

मीरा

मीरा का जन्म सन् १५१६ में और परलोक वास सन् १५४६ में हुआ।

मीरा मेड़तिया के राठौर रतनसिंह की पुत्री थी और इनका विवाह उदयपुर के महाराजकुमार भोजराज के साथ संपन्न हुआ था। बचपन ही से आप कृष्ण-भक्ति में लीन रहा करती थी। उम्र के साथ साथ इनकी कृष्ण-भक्ति भी बढ़ती गयी। इससे वह लौकिक व्यापारों की तरफ़ से विरक्त-सी रहने लगी। विवाहित होने पर भी गार्हस्थ्य जीवन नहीं बिता सकी। भाग्य ने भी इनका साथ नहीं दिया। विवाह होने के थोड़े ही समय बाद पति का परलोकवास भी हो गया।

चढ़ती जवानी में, युव-हृदय में जो भावनाएँ उठ सकती हैं वे सब मीरा में थी। मीरा की भक्ति-साधना में भक्ति की अपेक्षा प्रेम अधिक है इसीलिए वह "प्रेम-योगिनी मीरा" के नाम से विख्यात हुई।

दक्षिण में ऐसी दो और भक्तिनें हुई थीं। एक तमिलनाड़ में और दूसरी कर्णाटक में। तमिलनाड़ की भक्तिन आंडाल है और कर्णाटक की महादेवी है। मीरा और आंडाल वैष्णव-भाव से भगवान् की आराधना करती थीं तो महादेवी शैव-भाव से। मगर इन तीनों के जीवन-क्रम तथा साधना-मार्ग में बहुत समानता है। मीरा और महादेवी विवाहिता थीं; मगर मीरा ही की तरह बचपन से ही वह शिव-भक्ति में लीन रहा करती थी। मल्लिकार्जुनेश्वर की पूजा-अर्चा में दिन बिताया करती थी। मीरा गिरिधर में लीन रहा करती थी। आंडाल भी मीरा की तरह बचपन से नारायण की पूजा-अर्चा में लगी रहती। आंडाल का बाल्य छूटा; किशोरी

आंडाल भगवद्भक्ति का गान गाती नाचती दिन बिताने लगी। अब इनके पिता पेरियाल्वार विवाह की चिन्ता में पड़े। अपने आराध्य की आराधना में लीन आंडाल ने पिता को चिन्तित रहने नहीं दिया। जिस तरह के सुख की कल्पना विवाह-योग्या किशोरी में हो सकती है उन सभी का अनुभव आत्मा ही आत्मा में कर सकी आंडाल। इसीलिए आंडाल की भक्ति अलौकिक तथा माधुर्य-भावना को ले कर बढ़ी। मीरा की भी साधना इसी तरह की थी और महादेवी की भी यही साधना थी।

सूफ़ी संप्रदाय के प्रेम-मार्ग का प्रचार तो मीरा के समय तक काफ़ी हो चुका था। मगर उस से मीरा प्रभावित हुई यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जितनी भी हृदय की भावनाएँ हो सकती हैं उन सभी का अनुभव अपनी उसी साधना में मीरा कर सकी जैसे आंडाल और महादेवी ने की।

इन बातों पर अधिक प्रकाश डालना हो तो बहुत अधिक लिखना पड़ेगा। इससे मीरा का परिचय इतना ही हम देना चाहते हैं कि वह एक विशिष्ट भक्ति-पद्धति की जन्मदात्री थी।

मीरा बाई

(१)

बसो मेरे नैनन में नँदलाल।
मोहनि मूरति साँवरि सूरति नैना बने बिसाल॥

अधर सुधा रस मुरली राजत, उर बैजन्ती माल।
छुद्रघंटिका कटि तट सोभित नूपुर शब्द रसाल॥

'मीरा' प्रभु संतन सुखदाई भक्त बछल गोपाल॥

(२)

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई॥

जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।
तात मात भ्रात बन्धु आपनो न कोई॥

छाँड़ि दई कुल की कानि क्या करि है कोई।
संतन ढिग बैठि-बैठि लोक-लाज खोई॥

चुनरी के किये टूक-टूक ओढ़ लीन्ह लोई।
मोती मूँगे उतार बन-माला पोई॥

अँसुवन जल सींचि-सींचि प्रेम-बेल बोई ।
अब तो बेलि फैलि गई आनन्द फल होई ॥

दूध की मथनियाँ बड़े प्रेम सों बिलोई ।
माखन जब काढ़ि लियो छाछ पिये कोई ॥

भगति देखि राजी जगत देखि रोई ।
दासी 'मीरा' गिरिधर प्रभु तारो अब मोही ॥

(३)

गी मत जा मत जा मत जा, पाँव पड़ूँ मैं चेरी तेरी ।
प्रेम भगति कौ पैंड़ है न्यारो, हमकूँ गैल बता जा ॥

अगर चन्दन तें चिता रचाऊँ, अपने हाथ जला जा ।
जल बल भई भसम की ढेरी, अपने अंग लगा जा ॥

मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, ज्योति में ज्योति मिला जा ।

कठिन शब्दार्थ

व्रजभूमि की संध्या

३. अवसान - अंत
लोहित - लाल
राजती थी - शोभित थी
कमलिनी-कुल-वल्लभ - सूर्य
विहंगम-वृंद - पक्षि समूह
कल - मनोहर
निनाद - शोर, ध्वनि
विवर्धित - बढ़ा हुआ
विविधा - तरह तरह के
विहगावली - पक्षि - समूह
४. अनुरंजित - रंगी हुई, रंगीन, प्रसन्न
पादप - पुंज - पेडों का समूह
हरीतिमा - हरियाली
अरुणिमा - लाली
विनिमज्जित - नहाई हुई, डूबी हुई
पुलिन - किनारा
अचल - पहाड़

पादप-शीश-विहारिणी - पेड़ों की चोटियों पर खेलनेवाली
तरणि-विंब - सूर्य-बिंब
तिरोहित होना - छिपना
शनै-शनैः - धीरे-धीरे
कंदरा - गुफ़ा
कलित - सुंदर
केलि - क्रीड़ा, खेल
तरणिजा - यमुना
क्वणित - बजता हुआ ;
(क्वणित होना - बजना)
विषाण - पशु के सींग से बना हुआ बाजा (बिगुल)
रणित - बजता हुआ
श्रृंग - सींग का एक और बाजा
५. समाहित - जमा
प्रांतर - रास्ता, खाली जगह, जंगल

धावित - दौड़ती हुई
कियत ही - कुछ ही
वीथिका - मार्ग, सड़क
धूसर - धूल के रंग का, मटियाला
वत्स - बछड़ा
समवेत - जमा, इकट्ठा
व्रज-भूषण - कृष्ण
समाकुल - व्याकुल, परेशान
६. अनियंत्रित भाव से - जो रोका न जा सके।
वयवती - उम्रवाली, बूढ़ी
स्वदृग - अपनी दृष्टि
कढ़ी - निकली
पगी - डूबी हुई
बलवीर - श्रीकृष्ण
ककुभ - दिशा
कदन - विनाश, (अन्वय—ज्यों दिशि-कालिमा कदन करके)
नलिनीश - सूर्य
अतसि - तीसी, अलसी। (इसका फूल नीला होता है।)
७. नवल - सुंदर
नीरद - बादल
लस रही - शोभित हो रही
दुकूल - चादर, उत्तरीय
मकर केतन - कामदेव
केतु - ध्वजा
अलकावली - लट, बालों का समूह
शिखि-पुच्छ - मोर पंख
असित - काला; (यहाँ असित रत्न से नील मणि का मतलब है।)
चन्द्रिका - मोर-पंख की आँखें
खौर - चन्दन
८. अमिय सिंचित - अमृत में सना
जानु विलंबित - घुटनों तक लटकता हुआ
वय-किशोर-कला - किशोरावस्था की कांति
सहेलिका - सखी, सहेली
कल-नादिनी - सुंदर शब्द करनेवाली
छिति - पृथ्वी
बगरती - बिखरती, फैलती
छनदा - रात
छितिज - क्षितिज, (भूमि और आकाश जहाँ मिलता-सा दिखाई पड़ता है)
९. तन-लोम - शरीर का रोंआ
छवि-रता - शोभा देखने में मग्न
कामिनि - कामिनी, स्त्री
गठित - बना हुआ
पाहन-पुत्तलिका - पत्थर की मूर्ति

जरठ - वृद्ध
सुखमा - कांति
सुखमूल - मोक्ष
तृण-तोड़ना - (नज़र न लगे, इसलिए स्त्रियाँ तृण तोड़कर फेंकती हैं) वे कृष्ण के सौन्दर्य पर मुग्ध थीं।
बलि गयीं - न्योछावर हुईं
लख - देखकर

आँख का आँसू

१०. रतन - रत्न
उगलना - मुँह से निकालना
खंजन - एक सुंदर पक्षी। इसकी उपमा आँख से देते हैं।
११. जिगर - कलेजा
फफोला - घाव (जल जाने से चमड़ा फूल जाता है)
अरमान - अभिलाषा
आँख की प्यास-(मु०) देखने की इच्छा
आन - प्रण, प्रतिज्ञा
१२. दिलजले - दुःखी हृदय
आँख गड़ना - (मु०) किसी पर दृष्टि लग जाना ; प्रेम होना।
आँख लड़ना - (मु०) किसी की आँखों से आँखें मिलना, प्यार पैदा होना
किरकिरी - बालू या धूल का कण
किरकिरी पड़ना - (मु०) प्रेमी को देखने को व्याकुल रहना
बू - गन्ध
चाह - प्रेम

प्रमीला की युद्ध-सज्जा

१६. पद-युग्म - दोनों चरण
रक्षोरिपु - राक्षसों के शत्रु
दंड-राज - यमराज
प्रमदा - मत्त स्त्री
१७. दुंदुभि - एक बाजा
वामा-दल - स्त्री-समूह
झार - ज्वाला
कांचनीय - सोने का, सुनहरा
कंचुकच्छटा - चोली की शोभा
मंदुरा -घुड़साल
हींसना - हिनहिनाना
हय - घोड़ा

कांची - मेखला, करधनी
डमरू - शिव के हाथ का बाजा
कालफणी - काल-सर्प
वारी - हाथी के बाँधने का बन्धन, जंजीर
रंग - रंगमंच
कबरी - जूड़ा
१८. सरासन - धनुष
निषंग - तरकस, तूणीर
रंभा - केला
खनका - बजा
सज्जित - अलंकृत
हैमवती - पार्वती
शुंभ - निशुंभ - दोनों भाई राक्षस थे। इन्हें पार्वती ने मारा था।

सत्तामयी - शक्तिमयी
कादंबिनी - मेघ
अंबर - आकाश
विलमे - देरी कर दी
१९. कटक - सेना
दैत्य-कुल-संभवा - राक्षस कुल में जन्मी
शोणित - रक्त
मोही - मोहित हुई
बुआ - फूफी
रक्ष-कुलांगार - राक्षसवंश का सत्यानाशी
करिणी - हथिनी
नल - कमल

उर्मिला का आह्लाद

२०. आह्लाद - आनन्द
प्रासाद - भवन
कांति - सौन्दर्य
२१. कनक - सोना
कल्प-शिल्पी - ब्रह्मारूपी कारीगर
तारुण्य - यौवन, तरुणता
गुराई - गोरापन
आरुण्य - लालिमा

कांत - सुंदर
सौध - महल
सिंहद्वार - प्रधान फाटक
कीर - तोता
२२. खंजन - एक पक्षी (आँख से उपमा दी जाती है)
सुभाषी - सुन्दर बोलनेवाला
सौमित्र - लक्ष्मण

पद्मिनी - कमलिनी

मराल - हंस

२३. भित्तियाँ - दीवारें

'प्रीति......आ मिला'- यहाँ उर्मिला प्रीति और लक्ष्मण आवेग या उत्साह हैं।

नयन लगाना (मु०) - प्रेम होना।

२४. "जन्मभूमि..........को"- जन्मभूमि का मोह छोड़कर (स्त्रियाँ जन्मभूमि की ममता छोड़कर ससुराल जाती हैं)

भव-भार - सांसारिक दुःख

"जनकपुर......सारिका" - जनकपुर के राज उद्यान में रहनेवाली एक सुन्दर सारिका चाहिये।—यहाँ लक्ष्मण ने तोते द्वारा अच्छा परिहास किया है—उर्मिला से।

जनकपुर की सारिका भी तो उर्मिला के नाते में बहन ही हुई।

२५. सुतनु - सुंदर शरीरवाली

होड़ - बाजी, बराबरी

सुग्गे पढ़ाना - (मु०) आसान काम, फ़िज़ूल का काम

उर्मिला का विरह-गान

२६. साध्य - साधना की वस्तु, प्राप्य

अहर्निश - दिन-रात

अबाध्य - न रुकनेवाली

२६. "सिद्धि.....साधना भाग" सिद्धि यानी—सफलता, साधना—यानी परिश्रम का ही अंग है।

"सुधा......न होती" - अमृत ही का क्या मूल्य होता, यदि उसको पान करने की भूख न होती?

काल - समय

"मिलन....काल" - विरह में—प्रतीक्षा में—समय लम्बा जान पड़ता है; पर मिलन में—आनन्द में—छोटा।

दृष्टि धोना - रोना

शत्रुघ्न का राजद्रोह

२८. व्यवस्थागार - इन्तज़ामों का समूह

२९. छोह - ममता, प्रेम

अभीप्सित - इच्छित, (जैसा चाहो)

"अराजक......तुमने पाप" अराजकता पाप मानी जाती है। पर आज तुम्हारा (कैकेयी का) जैसा राज्य धर्म है, उसके प्रति भक्ति करना ही पाप है और द्रोह करना पुण्य। इसलिए तुमने पाप को (द्रोह) पुण्य कर दिया है।

दर्प - गर्व

"विगत...मात्र" - राजा समाप्त हो जायँ, सिर्फ़ नर (जनता) ही रहें। अर्थात् राजा भी प्रजा में मिल जायँ। प्रजा से बड़े या ज़्यादा अधिकारवाले न रहें।

कुल-भुक्त - कुल-भोगी; एक ही कुल के

मानिनी यशोधरा

३०. मानिनी - गर्वीली

३१. बात बिगड़ना - (मु०) काम खराब होना

निग्रह - दमन, रोक

जन - दास

दो पद - थोड़ी दूर

"क्या...जितना" - बुद्ध ही छोड़ गये हैं, इसलिए उन्हें ही यहाँ तक आना चाहिए। वहाँ तक जाना तो मानिनी यशोधरा के वास्ते सचमुच कठिन ही था।

३२. निःश्रेयस - मुक्ति

चेरी - दासी

नारी

३६. निस्संबल - रास्ते के खर्च से रहित

तिरना - उतराना, तैरना

मानस - हृदय

सुघराई - स्वच्छता, सौन्दर्य

अस्फुट - अविकसित

उपचार - उपक्रम, तैयारी

तुल जाना - तौली जाना

विश्वास-रजत-नग-पग-तल में-विश्वास रूपी चाँदी के पहाड़ के नीचे

३७. स्मित-रेखा - हास्य, मुस्कुराहट

भाव—मैं आज इतना तो समझ पायी हूँ कि मैं कमज़ोरी में औरत (कमज़ोरी के कारण ही) हूँ और अंग-अंग की सुंदर कोमलता के कारण सबसे हारी हुई हूँ, पर मेरा मन भी इतना ढीला क्यों पड़ता जाता है। अपना सब कुछ निछावर करके, विश्वास के बड़े पेड़ की छाया में पड़े रहने की लालसा क्यों उठ रही है ? मैं अपने मनरूपी इस सरोवर के गर्भ में बिना किसी साधन के तैर रही हूँ और अपने सपनों की सुन्दरता से जागना नहीं चाहती हूँ। क्या नारी के जीवन का यही चित्र (स्वरूप) है ? नारी के जीवन-रूपी चित्र में हे सखि लज्जे !) तुम व्याकुल रंग (जिससे व्याकुलता बढ़ जाती है—चमक उठती है) भर देती हो और अस्पष्ट रेखाओं के बीच कला को जीवन देती हो (जैसे कोई कलाकर टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं को खींचकर सुन्दर चित्र बना डालता है, वैसे ही हे सखि, तुम भी लज्जा की रेखाओं से नारी जीवन को अनेक सुन्दर भावनाओं से भरकर अनमोल चित्र बना देती हो) । मैं जब कभी तौलने की कोशिश करती हूँ तो खुद तुल जाती हूँ (हृदय की भावुकता अंधी होती है—गुण-दोष परखने की ताकत उसमें नहीं होती—यहाँ हृदय बुद्धि पर हावी हो जाता है) और पुरुष-रूपी पेड़ में अपनी बाहुरूपी लता को उलझाकर झूले (हिंडोले) के समान झूलती रहती हूँ।......(तब लज्जा कहती है) हे स्त्री, तुम सिर्फ़ श्रद्धा हो। विश्वासरूपी पहाड़ की तलहटी में, जीवन के सुन्दर समतल (भूमि) में अमृत के समान बहती रहो।

देवताओं और राक्षसों की जो रगड़ (युद्ध) होती रही है, हृदय के अंतर में जो हमेशा उल्टा संघर्ष, (परस्पर विरोधी भाव - युद्ध) जीवित रहा है—चलता आया है, उसे मिटाने के लिए, आँसू से भीगे अपने अंचल पर अपने मन का सब कुछ तुमको रख देना होगा और अपनी मुस्कुराहट की रेखा से सुलहनामे की चिट्ठी तुम्हें लिखनी होगी—(मनुष्य के भाव-युद्ध में खड़ी होकर तुम्हें जीवन में शांति स्थापित करनी होगी।)

मानस के तट पर मनु

३८. मानस - मानसरोवर

मनु - मानव के आदि पुरुष

३९. मनस्वी - मेधावी, विद्वान, बुद्धिमान

"जगती......झुलसाया" - संसार-ताप से जला हुआ; दुनियाँ से ऊबा हुआ

प्रखर - तेज

लपट - ज्वाला

४०. जग-मंगल - विश्व-कल्याण, दुनिया का भला

निर्झर - झरना

संसृति - संसार, सृष्टि

४१. ह्रद - तालाब

मरकत - एक मणि

मुकुर - आईना

राका - पूर्णिमा

रसना - करधनी, मेखला

किलकारना - आनन्द से शोर मचाना

"किन्नरियाँ......अभिनव" - किन्नरियाँ (गन्धर्वों की एक जाति) पक्षियों की उन तानों की प्रतिध्वनि बनकर गा रही थीं।

४२. श्रद्धा - मनु की पत्नी

ज्योत्स्ना - चाँदनी

भावार्थ—'सुनती हूँ, संसार की ज्वाला से व्याकुल और झुलसा (जला हुआ-सा) हुआ एक मनस्वी यहाँ आया था। उसकी वह भयानक जलन जंगली आग बनकर पहाड़ों में फैल गयी। उसीकी स्त्री उसे खोजती आयी और यह हालत देखकर दया से, उसकी आँखें आँसुओं से भर आयीं। उसके आँसुओं की वर्षा संसार के लिए कल्याणकारी वरदान बन गयी। सब ज्वाला-जलन बुझ गयी, जंगल फिर हरा-भरा और ठंढा बन गया। पहाड़ों से उछलकर झरने बह चले; फिर से पेड़-पौधे हँसने लगे, नये-नये पत्ते निकल आये। वे दोनों अब वहीं बैठे हुए संसार की सेवा करते हैं, संतोष और सुख देकर सब की जलन हरते हैं। वहाँ महाह्रद नाम की निर्मल झील है

जो मन की प्यास बुझाती है, उसे 'मानस' कहते हैं। वहाँ जो जाता है, सुख पाता है।······(वह झील कैसी थी) जैसे मरकत नामक हरे रत्न की वेदी पर हीरे का पानी रखा हो (हरे धरातल में सफेद पानी—गजब की उज्ज्वल शोभा से ढलमल)। अथवा यह हीरक के समान उज्ज्वल झील प्रकृति का छोटा-सा आईना है, या राकारानी (पूर्णिमा रात की रानी से तुलना की गयी है) यहाँ आकर सो गयी है। पेड़ों की छाल के कपड़े पहने साँझ उस सरोवर के पास आयी थी। वह (साँझ) कदंब की करधनी पहने थी और उसके बालों में तारे गुँथे हुए थे। चिड़ियाँ चहचहा रही थीं। कलहंस (एक प्रकार का पक्षी) कूजन करते थे। किन्नरियाँ (गंधर्व देश की नारियाँ) उसकी प्रतिध्वनि (गूँज) बनकर अपूर्व ढंग से गा रही थीं। उस निर्मल मानस (मानसरोवर) तट पर मनु ध्यान में डूबे बैठे थे और सुमनों (फूलों) की अंजलि लिये (दोनों हाथों में फूल भरे) उनके पास ही श्रद्धा खड़ी थी। (दोनों हाथों में फूल भरकर श्रद्धा उन्हें भेंट करने जा रही थी)

इस चाँदनी के समुद्र में तारे बुलबुले के समान रूप बनाकर अपनी किरणें चमकाते दिखाई पड़ते थे।

हीरक-कणिका

४३. नील-निलय - नीलाकाश

४४. घनीभूत - जमी हुई

"तुम...जग के" - हे चिर सुंदर! तुम मेरे इस झूठे संसार के सत्य थे।

कल्याण-कलित - कल्याण (क्षेम) से भूषित

४५. मधु-राका - वसंत की पूर्णिमा-रात्रि

चंचला - बिजली

छलना - धोखा

परस - स्पर्श

सिहरना - रोमाँचित होना

४६. निखरना - सुंदर होना, स्वच्छ होना

सिकता - बालू
बेगुन - बिना रस्सी के
तुहिन - ओस, बर्फ़, हिम
यह पगली - यह पागल संसार

तुम और मैं

४९. तुंग - ऊंचा
शृंग - चोटी
सुर-सरिता - गंगा
हृदय उच्छ्वास - भाव
कांत - सुन्दर
खर - तेज
पिछली पहचान - आखिरी मिलन
रागानुग - भक्ति के वश में आनेवाले
शुचिता - पवित्रता
५०. नन्दन-वन घन-विटप - स्वर्ग उद्यान का घना वृक्ष
तल-शाखा - नीचे की डाल
काया - शरीर
प्रेममयी - प्रियतमा
रेणु - धूलि
वेणु - मुरली
श्रांत - थके हुए
बाट जोहना - प्रतीक्षा करना
दुस्तार - जिसे पार करने में कष्ट हो
निशीथ - रात्रि
५१. मधुमास - चैत्र, वसंत
पिक - कोयल
पंचशर - कामदेव, उसके पांच बाण माने गये हैं।
दिग्वसना - दिशायें ही जिसके कपड़े हों या नंगी।
तड़ित तूलिका रचना - बिजली की कूची से बनाया गया चित्र, अर्थात् क्षणभंगुर
मुखर - संगीत
नूपुर - पैर में नृत्य के समय पहना जानेवाला आभूषण
नाद-वेद - ध्वनि-वेद
ओंकार - ओंकार से ही सारी ध्वनियाँ निकली मानी जाती हैं—जो वर्णों और भाषा का मूल है
कुंद-इंदु-अरविंद-शुभ्र - कुंद (एक सफेद फूल), चन्द्रमा, तथा कमल (श्वेत) के समान सफेद

नोट—कवि ने इस पद्य में परमात्मा और जीव का सम्बन्ध बतलाया है। परमात्मा महान है और जीव क्षुद्र है। परमात्मा ही जीव का जनक है। परमात्मा की दया या करुणा से जीव शांति और आनंद लाभ करता है। योग और सिद्धि की तरह परमात्मा का जीव से अटूट सम्बन्ध है। जीव आवरण है और परमात्मा प्राण है। वह ब्रह्म है और यह उसकी माया है। उसको पाने के लिए ही जीव का सब प्रयास है, यद्यपि वह उसी का अंश है; जिस तरह रास्ता और उसकी धूलि उसका एक कण। वह पुरुष है, जीव प्रकृति है। जीव में प्रेरणा देनेवाला वही है। वह चित्रकार है और जीव उसकी क्षण-भंगुर रचना है।

विधवा

५२. "वह क्रूर.........रेखा-सी" - विपत्तियों द्वारा कुचली जाने के बाद उसकी बची हुई यादगार

"पड.........अथवा है" - (भाव) जीवन के आनन्द उसके लिए कल्पना या स्वप्न समान हैं।

५३. मधु-सुहाग का दर्पण - मधुर सौभाग्य का अवलम्ब, पति

"उसके.....की धारा" - उसने अपने जीवन में आनन्द और मधुरता का एक दिन देखा था। अपना सहारा पहचाना था। पर वह दिन अब भूतकाल की बात हो गयी है। अब वहाँ से करुणा ही बहकर आ रही है।

मन-मधुकर - देखनेवाले का मन रूपी [भ्रमर

पांखें - पंख

रसावेश - रस का आवेग

पुलिन - किनारे

मौन बढ़ाकर - शून्यता को अधिक करके

छिन्न - फटे, जीर्ण

अंचल - हृदय

चितवन - दृष्टि

५४. धीर - धैर्यवाला

सुनता.....ठहरकर" - उसके दुख

को और कोई सुननेवाला भी नहीं है। धैर्यवान आकाश, निश्चल हवा और नदी की लहरें ही रुक-रुककर सुन लेती हैं।

छोर - किनारा

भारत का सर गया - भारत की प्रतिष्ठा चली गयी।

धारा

५५. कुंजर - हाथी

५६. मींचती - बंद करती

त्रस्त - भयभीत

भूधर - पहाड़

बालिका - छोटी लड़की (जिस धारा को छोटी समझा था)

ढहाते - गिराते

५६. शिलाखण्ड-नरमुण्ड मालिनी - पहाड़ों के चट्टान रूपी मुण्डमाला (सिर की माला पहननेवाली नदी)

वक्ष - हृदय, छाती

अटकी - रुकी

चटकी - खिली, विकास का प्रारंभ

प्रियतम - असीम - प्रिय समुद्र, भगवान

भिक्षुक

५८. टूक - टुकड़ा

लकुटिया - लकड़ी, लाठी

टेक - थामकर

मुँह-फटी - जिसका मुँह फटा हुआ हो

कलेजे को टूक करना - हृदय को व्याकुल कर देना

बाएँ - बायें हाथ से

५९. दाता............क्या पाते- भाग्यविधाता दाता उन्हें क्या देता? कुछ नहीं।

छाया

६२. परहित-वसना - परोपकार को ही वस्त्र रूप में पहननेवाली

वात-हता - वायु से चोटें खायी हुई

नियति-वंचिता - भाग्य ने जिसको

ठग लिया हो
मुक्त-कुंतला - जिसके बाल खुले हों
अलि - सखी
६३. विजन - सुनसान
विधुरा - व्याकुल
तुहिन - ओस
दुखद वर्ष - द्रौपदी को पांडवों के साथ वनवास करना पड़ा था।
अंगड़ाई - आलस से जंभाई लेकर अंगों को फैलाना
मादकता - नशा
जटिल-ग्रन्थि - कठिन समस्या
६४. इन्द्रजाल - जादू, विस्मय-जनक चीज़
अन्तर्धान - जो दिखाई न पड़े
अजान - जिसे जानते न हों

वीचि - लहर
नेपथ्य - पर्दे के पीछे की जगह, Green-room.
६५. ज्योतिर्मय - प्रकाशरूपी
पीन - मोटी (सांझ और सवेरे, छाया बहुत लंबी हो जाती है, और दोपहर को जब सूरज ठीक सिर पर रहता है—तब मोटी रहती है।)
संसृति - सृष्टि
भूति - ऐश्वर्य
स्थिति - अस्तित्व, स्थिरता
६६. तपित - झुलसा हुआ।
विटपी - पेड़
दिनकर कुल - दिन, सूर्योदय के बाद
६७. विहग-बालिके - पक्षी के बच्चे
द्रुत - शीघ्र

लहरों का गीत

खिल-खिल पड़ना - विकसित होना, हँसना (लहरों का उठकर गिरना)
अविरल - बराबर
फेनिल - फेन से भरे (लहरों में फेन रहता है)

टलमल - (अनुकरण शब्द) हिलते डुलते
६९. मधु - वसंत
लहलह - हरी भरी, लहलहाती
पुलिन - किनारा, सीमा
नाँघ - पार कर

हुलस - प्रसन्नता से
खस खस पड़ता - गिर गिर पड़ता
निस्तल - तल, नीचे
हो ओझल - छिपकर
पुलकाकुल - रोमांचित, हर्षित

मानव-जीवन

७०. चिर - बराबर
अविरत - लगातार
मिचौनी - आँख-मिचौनी का खेल (कभी सुख, कभी दुख)
जीवन अपना मुख खोले - जीवन विकसित हो
परिपूरन - भरा हुआ
घन - बादल
७१. उत्पीड़न - दुख
निशा-दिवा - दिन रात ; दिन रात के बिना अच्छी नहीं, रात दिन के बिना अच्छी नहीं।

कोकिल

७२. भ्रंश - नाश, अधःपतन
नूतन - नया, नवीन
पावक-पग-धर - अग्नि रूपी पैर रखता हुआ
झरें - गिर जायँ, नष्ट हो जायँ
नीड़ - घोंसला
रूढ़ि-रीति - अर्थहीन आचार-विचार
७३. नवल ....पल्लव - नये खून से पल्लवों का शरीर भर दे
मंजरित - पुष्पित
जन - लोग
शोभन - सुन्दर, कल्याणप्रद
जीवन - यापन - जीवन-निर्वाह
स्फुलिंग - अग्निकण
(मानव नश्वर शरीर नहीं है। वह सदा प्रज्ज्वलित रहनेवाला अग्नि - कण है।)

विप्लव-गायन

७६. उथल-पुथल - क्रांति, आन्दोलन
हिलोर - तरंग
प्राणों के लाले पड़ना (मु०) - जान बचने की आशा न रहना

कठिन शब्दार्थ

भस्मपात - राख के जैसे

भूधर - पहाड़

धूल-उड़ना - नष्ट होना, बेइज्जती होना

७७. गतानुगति -सनातन नियमों पर चलना

विगलित - नष्ट

तर्जन - गरजन

विश्वंभर - सृष्टिकर्ता

थर्राए - काँप जाय

घहराए - गरजे

७८. आन - आकर

मिजराबें - तार की अँगूठी जिससे सितार आदि बजाये जाते हैं

युगलांगुलियाँ - दोनों अंगुली

ऐंठी हैं - थककर ऐंठ गयी हैं

रुद्ध होना - रुकना

झाड़-झंखाड़ - बड़े-बड़े पेड़-पौधे

ज्वलंत - भयंकर

प्रज्ज्वलित वह्नि

७९. बयार - हवा

पली - तेल-घी निकालने का बर्तन

दीये - दीपक

अली - कतार

८०. चंचलते - चंचल स्वभाव

मोर - मुझे

मलार - एक राग

अग्नि - लोक - पवित्र-प्रदेश

हृत्खंड - हृदय के टुकड़े

८१. शोले - ज्वालाएँ

धूम्र-यान - धुआँ रूपी विमान

झांकी - दर्शन

निसार - अर्पित

बीन - वीणा (हृदय)

सोते - स्रोत, धाराएँ

भावार्थ—कवि ने प्रेम की कुछ बातें आग्रह-पूर्वक हृदय के अंतस्तल में छिपा दी थीं। उन्हें स्मृतिपटल पर रखकर, उनकी बराबर याद करके वह दुखी होना नहीं चाहता था। लेकिन हवा का एक ऐसा झोंका आया कि पिछले जमाने के, मज़बूती से बंद किये, दरवाज़ों को खोल दिया—भूली हुई बातें याद आने लग गयीं।

कवि का वह प्रेम-पात्र (लौकिक या अलौकिक) पलियों (पत्तों के दोनों) में घी लेकर आता है (अस्पष्ट भावना में स्नेह का संचार कराता है) और कुंज की कतारों में दीपक जलाकर रख देता है (भूली बातें याद करा देता है), उसकी (प्रेम पात्र की) गिनती छलियों में है। फिर वह (प्रेम-पात्र) याद दिलाने-वाले इन दीपकों को बारबार बुझा देता है (छल करके अंतर में आता है, सोये भावों को जगाता है,—कवि अपने हृदय की बेबसी का भार उस छलिया पर डाल उलहना देता है।)

कवि की ये भूली बातें (वेदना-मिश्रित होते हुए भी) बड़ी प्रिय हैं, इसीलिए वह अनुरोध के स्वर में कहता है—स्मृतियों का यह दीपक कुछ देर और जले जिससे मैं माला का एक छोर गूँथकर पूरा कर दूँ (सिलसिले से पूरी बात याद कर लूँ), ऐ, आँधी की तरह धूल उड़ाती चलनेवाली विस्मृति (भूल जाने की भावना), तू हल्ला मत मचा, और हे मेरी चंचलता (थोड़ी ही देर में अस्थिर हो जानेवाली वृत्ति), तू मुझे मेरे मन का मलार गाकर (मन में भरी भावनाओं के गान से) मुझे बहकाओ मत, (चिंता) पथ से अलग मत करो:—गान सुनते ही आदमी थोड़ी देर के लिए सब कुछ भूलकर गान में ही मग्न हो जाता है। मन का मलार (वह राग जो वर्षाकाल में आनन्द से गाया जाता है) जहाँ उठा, वह सिलसिले से सोचने-समझने का मौका गया। (मलार की संगति बयार से भी बिठायी जा सकती है)।

कवि अपने आराध्य प्रियतम के लिए पागल है। उसकी मुरली और उसके अधर के अमृत के लिए वह व्याकुल है। उनको न पाने से जो एक दाह उत्पन्न होती है उसके हृदय में उस आग की लपट में वह कैसे बचे? जलकर ही तो सारे बंधनों से मुक्त हो सकता है।

अब वह अपनी वेदना को पुकारता है—कल्याणी (वेदना कल्याण करनेवाली है—दुख ही प्रेमी के जीवन का आधार है), तू मेरे इस हृदय के

टुकड़े को जलाया कर। तुम इसी हृदय में रानी की तरह रहती हो (हृदय में वेदना का ही राज्य फैला है), अब अपने हाथ से ही इसको जला दो (वेदना में ज्वाला भी तो है), पानी डालकर शांत मत करो (वेदना की बाढ़ से आँसू उमड़ते हैं और अश्रु-वर्षा से थोड़ी देर के लिए दिल की जलन ठंढी हो जाती है)। हृदय के टुकड़े जलें और तीन चार शोले (जलते हुए अंगारे) निकलें (खंड खंड होकर दिल के शोले निकल पड़े)।

मेरे हृदय-यज्ञ से जो धूम-धारा निकलेगी वह वायुयान की तरह ऊपर उठेगी। उस पर प्रियतम मूर्तिमान होगा। वह मेरी आहों के अश्रुदान से और स्मृति के रत्नों से अलंकृत होगा (आह से अश्रु पैदा होंगे जो मोती की समता करेंगे और स्मृति रत्नों की तरह चमकती रहेगी—कवि का आराध्य प्रियतम इस प्रकार मूर्तिमान होकर उसके सामने आ विराजेगा)। कवि उस झाँकी (दृश्य) पर अपना सब कुछ निछावर कर देगा।

गुज़रे ज़माने में प्रियतम के संयोग से जो आनन्द उठाये थे, वे आँसुओं की राह बहकर पतले हो गये हैं, नये-नये आये हुए दुखों से उसे बड़ा अनुभव हो गया है। अपनी वेदना को वह प्रकट नहीं कर सकता है—इसलिए उसकी हृदय-वीणा झकोर से भरी है और 'नवीन' (कवि) हाथ जोड़-कर अनुरोध करता है कि अब ऐसी हवा बह चले (परिस्थितियों में ऐसे उलट-फेर हों) कि यह जलती हुई आग और बेहद जल उठे, (आग से तरल पदार्थ भाप बनता है, भाप से जल बनता है; हृदय में तरलता है और आग है; जैसे-जैसे आग की लपट बढ़ेगी, भाप से जल भी बढ़ता जायगा)। फिर यह हृदय का खंड (नाव की तरह) उस जल में विहार करे, आनन्द से तैरता चले और उन (खंडों) से अनगिनती सोते निकलें और बह चलें (वेदना की) आग से जला, आह उसासों से भरा, आँसुओं से तर इस हृदय से करुणा (जग-मंगलकारी करुणा) की धारा बह चले। (अपनी करुणा से कवि दुनियाँ को भर

देना चाहता है—दुखियों पर दया बरसाकर जगत का कल्याण करना चाहता है—अपनी वेदना को विश्व-वेदना में मिला देना चाहता है)।

मेरा राज्य

८४. रजनी - रात
बिखरे - छिन्न-भिन्न, फैले हुए
जाली - जाल, जालीदार कपड़ा
उजियाली - प्रकाश

(जब रात झिलमिल तारों को समेटकर जा रही थी और प्रकाश उनके गत-वैभव पर रोता था। अर्थात् उषःकाल के आगमन के समय।)

* शशि को......आलिंगन - मछली चंद्रमा का प्रतिबिंब लहरों में देखकर उसको छूने के लिए कूदती है और लहरों का ही चुंबन कर पाती है। उसी तरह नदी (तटिनी) बेहोश सा हो अंधकार की छाया का आलिंगन कर रही है।

बेसुध - बेहोश
तम - अंधकार
तटनी - नदी
८५. अवनी - पृथ्वी

(अर्थात्—जब दक्षिणी हवा बूँदों के साथ आती है और नीरस पृथ्वी को सरस बना देती है—अर्थात् ओस गिरकर उसे भिगो देती है।)

पल्लव......हिंडोले - पल्लवों (पत्तों) का झूला डालकर।

(जब पल्लवों के झूले पर कली के अन्दर सौरभ (सुगन्धि) सोया रहता

---

* पाठांतरः—"शशि को छूने मचली सी" भी एक पाठ है। उसके लिए यों अर्थ लगा लें :—

(जब चन्द्रमा को छूने के वास्ते नदी मचल रही थी और बेहोश होकर अंधकार के प्रतिबिम्ब (अंधकार) का आलिंगन कर रही थी। अर्थात्—नदी जब अंधेरे में लहराती हुई बह रही थी।)

है—और किरणें मधु (पराग) से या ओस-बिन्दु से सिंची गलियों में आती हैं। अर्थात्—जब सूर्य की पहली किरण पृथ्वी पर उतरती है।)

आँखों में रात बिता - सारी रात जागकर | मुख फेरा - चला गया
विधु - चन्द्रमा | प्राची - पूरब
पीला - उषःकाल में चन्द्रमा पीला पड़ जाता है। | चितेरा - चित्रकार

(चन्द्रमा चला गया और प्रातःकाल रूपी चित्रकार आया।)

सपनों की डाली - मनोरथों, अभिलाषाओं से भरा हृदय

(भाव—ऊपर के छः पद्यों में कवयित्री ने भिन्न भिन्न रूप से प्रातः काल का वर्णन किया है। और संकेत किया है कि इसी तरह जब मेरे जीवन में भी उषःकाल का प्रारंभ हुआ—तब मैं यहाँ मनोरथों के साथ उतरी)

८६. हीरक-जाल - हीरों का समूह | धुँधले - मैले, साफ़ नहीं
लजाये - शरमा दिया; उनकी चमक को फीका कर दिया | व्रीड़ा - लज्जा
पीड़ा - दुख, वेदना

(प्रियतम के चरणों पर मैं दो-चार भक्ति के आँसू चढ़ाने गयी। मेरी आँखें उस रूप को देखने के वास्ते ललचायी हुई थीं, पर लज्जा उन्हें ऊपर उठने नहीं देती थी। एकाएक मैंने एक झाँकी देखी। प्रियतम की उस नज़र ने मेरे दिल में वेदना, दर्द पैदा कर दिया—अर्थात् मैं मोहित हो गयी।)

सोने का सपना - सुन्दर सपना | रीते - खाली
कोष = खज़ाना | मोती - आँसू

८७. मेरी आहें..... ओठों में - मेरे हृदय से आहें निकलना चाहती हैं— मगर मैं उन्हें निकलने नहीं देती। ओठों की आड़ में ही दबा देती हूँ।

दीवानी - पागलपन की | निर्मम - निर्दयी
चोटों - घावों (वेदनाओं)

फूल

८८. मधुरिमा - माधुर्य, मीठापन

छविमान - शोभित

आँसुओं में - आँसू भरे

सहमे - ठिठके, डरे हुए

अजान - अबोध

बान - आदत

८९. अछूता - जिसे किसी ने छुआ न हो

रजतकिरण - चाँदनी

पखार - धोकर

एकाकी - अकेले

मारग - रास्ता, मार्ग

मँजु - सुन्दर

आरक्त - लाल

किलक पड़ता - हँस पड़ता, नाच उठता

बुझते - डूबते, खतम होते

हेरती है - दीखती है, प्रतीक्षा करती है।

हाट - बाज़ार

निर्मोही - निर्दय (प्रियतम)

९०. कोर - किनारा

संमोहन - वशीकरण

कर्तार - भगवान

उस पार

९१. मारुत - हवा

९२. फेनिल - फेन से भरे

तरी - नाव

उपहास - व्यंग, मज़ाक

ग्रास करना - खा जाना

उत्ताल - बहुत ऊँची

रैन - रात्रि

कृष्ण दुकूल - काली चादर

कर्णाधार - पतवार पकड़कर नाव को ठीक रास्ते पर ले जानेवाला

९३. विहग - पक्षी

ललाम - सुन्दर

धरा - पृथ्वी

निर्झर - झरना, Water-fall.

झंकार - संगीत, ध्वनि

कमनीय - सुन्दर

९४. पल - क्षण
आन - आकर
विसर्जन - त्याग, समर्पण

मेरा जीवन

९४. देव-वीणा - देवताओं की वीणा
९६. क्षीर-निधि - दूध का समुद्र
सुप्त - सोई हुई
न्यारा - अलग, सुन्दर
आकर - खान
निर्मेघ - मेघरहित
सुभग - सुन्दर
अलक्षित - अदृश्य, अज्ञात
आस्वादन करना- चखना, खाना
सपनों का हास - कल्पना का आनन्द
संजीवन - अमृत
९७. अन्तर्धान - लुप्त
लबालब - बिलकुल भरी हुई
उन्मीलन करना - खोलना
९८. सजीला - सजा हुआ (सुंदर)
विच्छेद - विरह, वियोग

हिमालय के प्रति

१००. नगपति - पहाड़
विराट् - बहुत बड़ा
हिम-किरीट - बर्फ़ का मुकुट
भाल - माथा
१०१. अजेय - जिसे कोई जीत न सके
निर्बंध - बन्धन-रहित
निस्सीम - सीमा-रहित
व्योम - आकाश
वितान - मण्डप, बड़ा चँदोवा
यतिवर - श्रेष्ठ संन्यासी
निदान - आदि कारण, रोग-लक्षण
उलझन - झंझट
नयनोन्मेष करना - आँखें खोलना
पद पर - पैरों पर
पंचनद - पाँच नदियाँ
अमिय - अमृत
विगलित - द्रवित, पिघला हुआ
१०२. क्रांत - ढका या छिपा हुआ
सीमापति - सीमा के रक्षक
सिर उतार लेना - मारना, हराना, अपमानित करना

तपी - तपस्वी
आन पड़ा - आ पड़ा
व्याल - सांप
अशेष - जिसका कुछ अन्त न हो
वीरान - उजाड़
द्रुपदा - (माँ-बहनें) द्रौपदी
ज्वाल-वसंत - ज्वाला, अग्नि की होली। दुख और मरण में आनन्द मनाना।
१०३. सिकता-कण - बालू
निधियाँ - सम्पत्तियाँ
१०४. वैशाली - एक पुराना राज्य
लिच्छवी - वैशाली का राज-वंश
गंडकी - एक नदी जो बिहार में बहती है
ध्वंस-राग - नाश की रागिनी
प्रांगण - आंगन
१०५. महोच्चार - निनाद, पुकार, शोर, ध्वनि
शैलराट् - पर्वत-राज
कुहा - अंधकार
प्रमाद - अन्तःकरण की कमज़ोरी, भ्रम

परिचय

१०६. सलिल-कण - पानी की छोटी बूँद
पारावार - समुद्र
आधार - (आधार की छाया होती है, बिना आधार के छाया पैदा नहीं हो सकती।)
समाना - प्रवेश करना
तम - अंधकार
आगार - खजाना
१०७. अभिसार - मिलने के लिए यात्रा
अगम - जो जाना न जा सके, भगवान
पंखड़ी - दल
रंगीले - रंगीन, विचित्र
कसक - दर्द
नंदन-विपिन - स्वर्ग की फुलवारी
अमर-तरु - सदा जीता रहनेवाला पेड़, कल्पवृक्ष
पिरोता - गूँथता
१०८. विभा - प्रकाश, प्रतिभा
क्षार - राख
समा चुका - मिल चुका

हुंकार - गर्जना
निर्घोष - भयंकर आवाज़
अशनि - वज्र
दलित - पीड़ित
निज को - अपने को

१०९. उद्दाम - उग्र, जिसको कोई रोक न सके
आग - वेदना, भाव, इच्छा
बँधी है लेखिनी - कलम स्वतंत्र नहीं है। अर्थात् मैं, जो जी में है— नहीं कह सकता हूँ; बंधन में हूँ।

बुद्ध-आह्वान

११०. सिमट - एक जगह जमा होकर
निखिल - सब, पूरी
करुण-अंतर - करुणापूर्ण हृदय
हुंकरित हुआ - बोला, चिल्लाया
काँटों पर कलियाँ - दुख पर सुख (दुख के वास्ते सुख छोड़ा)
गैरिक - गेरुआ वस्त्र
सुलग्न - अच्छा समय
प्रबोध - ज्ञान
संधान किया - खोजा
तृषित - प्यासा
१११. मानस - हृदय
अथाह - बहुत गहरा
ललक - खुशी से, बहुत अभिलाषा से
तप-कानन - तपस्या का वन
बट - (बुद्ध ने बट के नीचे तपस्या की थी) बट का पेड़

सुजाता - एक ग्वालिन जो बुद्ध के तपस्या-काल में रोज़ खीर बनाकर दिया करती थी।
कीर - तोता
धरा - पृथ्वी
जंजीर - बन्धन
गरल-वर्षण - विष की वर्षा
निर्वाण - मोक्ष
दर्शन - वेदान्त
अंधेर - अज्ञान
बोधिसत्त्व - महात्मा बुद्ध
अस्पृश्य - न छूने लायक
११२. पट - किवाड़
मेवा - बढ़िया सूखे फल, मिठाइयाँ (कृष्ण ने विदुर के यहाँ साग-पात खाया था और कौरवों का मेवा छोड़ दिया था)
नेम - नियम, प्रतिज्ञा

नारायण - जल के अधिष्ठान में रहने-वाले। (परमात्मा)
दानव - राक्षस
निपट - बिल्कुल
निर्द्वन्द्व - स्वच्छन्द
वाक् - वाणी
दंभियों - ढोंगियों
गांधी...वारों - गांधीजी पर पूना तथा अन्य जगहों में जो लोगों ने अत्याचार किया है—उस ओर संकेत है।
मैत्री-निर्घोष - विश्व-मैत्री की आवाज़ उठानेवाले
अतीत - भूतकाल

लहरों का निमंत्रण

११४. तीर - किनारा
११५. सितारे - तारे
वक्ष - कलेजा
युग - दोनों
प्रभंजन - हवा
पट - कपड़ा
प्रतिच्छायित - प्रतिबिंबित
हिल्लोल कंपन - लहरों द्वारा उत्पन्न कँपकंपी
११६. अनुरूप - लायक़, सदृश
बासकर - रहकर
विनिर्मित - बना हुआ
पारावार - समुद्र
११७. तरल - बहनेवाला (द्रवित)
स्वप्न - कल्पना
विभा - प्रकाश
११८. नियंत्रण - रोक-थाम
जगती - संसार
जीवन का लाभ - मुक्ति
११९. थाम - पकड़कर
रूढ़ि - स्थिर
तिनका - घास
१२०. उद्दाम - प्रचंड
प्रवंचन - धोखा
पोत - जहाज़
जलयान - जहाज़, नाव
बरबस - ज़बरदस्ती
१२१. सदाएँ - आवाज़ें
दुआएँ - आशीष

कलियों से

१२३. नाज़ - शान, गरिमा
स्नेह-भाजन - स्नेह का पात्र
परितोष - संतोष
१२४. लहे - प्राप्त करे

मधुशाला

१२५. भावुकता - भावना
हाला - शराब
साकी - शराब पिलानेवाला
१२६. मोमिन - धार्मिक मुसलमान
विक्रेता - बेचनेवाला
घट - बर्तन, घड़ा
१२७. बेलि - लता
विटप - पेड़
तृण - घास-फूस
मदिरालय - शराब की दूकान

कबीर दास

साखी

२. कथनी - बात, कथन
खाँड़ - कच्ची चीनी जो गुड़ से तैयार की जाती है।
लोय - लपट, लपेट
३. सीलवंत - सुशील, चरित्रवान
सील - चरित्र
आन - मर्यादा, शान
४. पोथी - पुस्तक
मुआ - मरा, दुख उठाया
५. पाहन - पत्थर
तातें - उससे
चाकी - चक्की
६. भादों नदी - भादों मास की नदी, जिसमें बाढ़ अधिकता से रहती है।
घहराय - गरजकर
७. वृच्छ - वृक्ष, पेड़
भखैं - भक्षण करना, खाना
संचै - इकट्ठा करना, जमा करना
परमारथ - उपकार
कारने - कारण से, वजह से.

८. जनि - नहीं, मत

हेत - प्रेम

हरिजन - साधु-संत

१०. समाता - अटता, भीतर आ सकता

११. क्या मुख लै - कौन सा मुँह लेकर

औगुन - अवगुण, बुरे गुण

भावौं - ध्यान करूँ

१२. मनुवाँ - मनुष्य, मन

साहंसाह - शाहंशाह, चक्रवर्ती

१३. वाजि - अश्व, घोड़ा

घूर - कूड़ा, राख,

१४. भया - हुआ

भँगार - कूड़ा, कीचड़

१५. साँच - सत्य, सचाई

हिरदे - हृदय में, दिल में

आप - खुद, आत्मा

सबद

१. बौराना - पागल

पतियाना - विश्वास करना

नेमी - संयमी, व्रती

असनाना - स्नान करना

पखानहिं - पत्थर को ही

डिंभ - आडंबर

गुमान - घमंड

साखी - ज्ञान विषयक पद

सबदै - महात्मा के वचन

लरि - लड़कर

मूए - मरे

मरम - रहस्य, भेद

भरम-भुलाना - भ्रम-भूल

केतिक - कितना

कहा - कहना, बात

२. डीठा - देखा

स्वाद···मीठा - जिह्वा (स्वाद) के गुलाम है।

हटा - रोकना, मना करना

बरत - व्रत, उपवास

सिंघाड़ा - एक कँटीला फल जो जल में पैदा होता है।

सेती - सेवन करते हैं

हटकै - वश में लाना

सगोती - सगोत्र, बन्धु-बांधव

बिसमिल - अल्लाह का नाम लेकर

भिस्त - बहिश्त, स्वर्ग

हलाल - चाकू से काटना

झटका - एक ही बार में मार डालना (झटके से मारना)

राम न कहेउ खोदाई - न हिन्दू राम का नाम लेता है, न मुसलमान खुदा का ।

नानक—पद

१. लखों - देख सकूँगा

गुसाईं - ईश्वर, स्वामी

तिमिर - अंधेरा, अंधकार

उरझाई - उलझकर

मति - बुद्धि

बासर - वासर, दिन

अधमाई - नीचता, ज़लालत

कीन्हा - किया

जन - अनुचर, सेवक

सरनाई - शरण में

२. अलेपा - निर्लिप्त

तोही - तेरा

समाई - प्रवेश किया है

मुकुर - आईना, दर्पण

माहिं - में

जस - जैसे

घट - अपने ही अंदर में

आपा - खुद को

चीन्हे - पहिचाने

काई - हरी व मैले रंग की एक वस्तु जो नमी के कारण पत्थर, पानी आदि पर जम जाती है। (MOSS)

३. नियारो - न्यारा, अलग

आसा - आशा

नाहिन - नहीं

किरपा - कृपा, रहम

कीन्हीं - किया

तिन - जिस, उस

जुगति - युक्ति

पिछानी - पहचाना

लीन - तन्मय होना, एकाकार होना

तुलसी दास—पद

१. नाते - संबंध

हाते - हाथ में

सनेह - स्नेह

सगाई - संबंध

नेह - प्रेम

गरुआई - बड़प्पन, गौरव

तिय - स्त्री
बिसराई - भूला गया
सासुरे - ससुराल
पहुनाई - अतिथि सत्कार
तहँ - वहाँ
बरनत - वर्णन करते हैं तो
नाई - नवाँकर
मीत - मित्र, दोस्त
२. कबहुँक - कब से
द्याइबी - दिलाना
छीन - क्षीण

अघी - पापी, कुकर्मी
अघाई - थका हुआ
बूझि हैं - पूछेंगे
कहिबो - कहो
जनाइ - समझाना, बताना
बिगारिऔ बनि जाई - बिगड़े काम बन
जाय (बिगड़ा काम अच्छा हो)
जन की - इस अज्ञानी भक्त की
बचन सहाइ - राम से दो बातें कह
कर मदद करें
तरै - (उद्धार) मुक्ति पा जायगा

राम विवाह

१. चाप - धनुष
भयेउ - होगा
विदित - जाने हुए, जान गये
२. रामपुर - अयोध्या, साकेत
तिन्ह - उनको
जनाई - खबर दी
बोलाई - बुलवाया
३. पाती - पत्री, चिट्ठी
दीन्ही - दिया
बारि - वारि, पानी
बाँचत - पढ़ते
४. बैठारे - बिठाया

उचारे - कहा
बारे - छोटे बालक
नीके - कुशल पूर्वक
निहारे - देखा
५. पागी - पगी हुई, मिली हुई
दो०-२. जाचक - याचक, भिखमंगे
हँकारि - बुलाकर
चिरजीवहु - बहुकाल जियें
६. हय - अश्व, घोड़ा
गज - हाथी
स्यंदन - रथ
साजहु - सजाये जायँ

बेगि - शीघ्र, जल्दी
बराता - बारात, वरके साथ जाने-वाले लोग
दो०-४. जुरन - जुड़ने, जमा होने
कारज - कार्य, काम
७. अपर - दूसरे-दूसरे
सिबिका - शिबिका, पालकी
तिन्ह - उन्हें
बृन्दा - समूह, भीड़
जनु - मानों
छेदा - आगम, वेद
दो०-५. बरात बर - श्रेष्ठ याने उत्तम-लोगों की बारात
सुनि निसान - नगाड़े आदि की आनंदभरी आवाज़ (आने की सूचना)
अगवान - स्वागत करनेवाले
८. महिपाल - भूप, राजा
पठाये - भेजा
चिउरा - चिउड़ा
काँवरि - बोझ ले चलने के लिए तराजू के आकार का एक ढाँचा, बहँगी
९. अगवानन्ह - स्वागत के लिए
हने निशाना - आतिशबाजी के बाण छोड़े।

१०. भइ - हुई
बकसीस - इनाम
मान्यता - पूज्यता
बड़ाई - बड़प्पन
जनवासे - बरातियों को ठहराने की जगह
कहँ - के पास
लेवाई - लेकर
११. बसन - पोशाक
पाँवड़े - पाँव रखने के लिए बिछाये गये वस्त्र
परहीं - पड़ते हैं
धनद - कुबेर
सुपासा - सुभीता, सुविधा-जनक
१२. अमाई - समाया
सकुचन्ह - संकोच करते हैं
गुरु पाहीं - गुरु के पास, गुरु से
१३. बड़ि - बड़ी
उपजा - पैदा हुआ
बिसेखी - विशेष
मनहु - मानों
तकेउ - देखता है
दो०-६. सुतन्ह - सुतों के
महुँ - में
थाह - गहराई

१४. पदरज - पाँव की धूलि
कौसिक - विश्वामित्र
राउ - राजा
लाई - लिया
पूँछी - पूछकर
कुसलाई - कुशल-समाचार
१५. लाइ - लाकर
दुसह - असह्य, घोर
मेटे - मिटाया
जनु - मानों, जैसे
भेंटे - भेंट की, मिली
१६. देखब - देखेंगे
लेब - लेंगे
भली विधि - अच्छी तरह
लाहू - लाभ
दो०-७ सीय - सीता
अवधि - सीमा, हद
अस - ऐसा
१७. बिसद - विस्तृत
बिसाला - विशाल
एहि भाँति - इसी तरह
१८. लगन - लग्न, विवाह
अगहन - मार्गशीर्ष
नखतु - नक्षत्र
जोग - योग, अमृत आदि
वर वारू - श्रेष्ठ दिन
सोधि - शोध कर, ढूँढ़कर
दो०-८. धेनु धूलि - गोधूलि, (गोधूलि के समय विवाह शुभकर माना जाता है।)
सन - पास, से
१९. निसान - एक बाजा
पनव - एक बाजा, ढोल
सुआसिन - सौभाग्यवती स्त्री
गावहिं - गाती हैं
धुनि - ध्वनि, आवाज़
पुनीता - पवित्र
२०. लघु - छोटा
लाग - लगा
तिन्हहि - उनको
२१. उछाहू - आनंद, उत्साह
बिलोकन - देखने
बिआहू - ब्याह, विवाह
अनुरागे - प्रेमी
लघु लागे - छोटा मालूम हुआ
दो०-९. परिछन- वरकी आरती उतारने आदि की रीति
साजहीं - सजाती हैं
दो०-१० सवाँरि - सजाकर
वर - श्रेष्ठ

२२. कलकंठ - सुन्दर गला, कोयल की तरह मधुर
किंकिनि - करधनी
नूपुर - पैरों का एक आभूषण
काम - मन्मथ
लाजहिं - लजा गये
छं०-१. बरु - वर, दूल्हा
मनि - मणि, रत्न
भूरि - अधिक
बारहिं - समर्पण किया, न्योछावर किया
लेखहिं - देखा
२३. समधी - बेटे या बेटी का ससुर
दो० ११. महुँ - मध्य में, में
सुहावनि - मनोहर
सुखमा - कांति, शोभा
२४. मुनिराई - मुनिराज
दुहुँ - दोनों
अचारू - आचार, रिवाज़
छं०-२ चहैं - चाहा
कोपर - बड़ा थाल
दो०-१२ होम - हवन
अनलु - अग्नि
२५. भावँरी - परिक्रमा
नेग - विवाह के समय ब्राह्मण आदि को मिलनेवाला द्रव्य, दक्षिणा

निबेरी - निबटाया, पूरा किया
सेंदुर - सिंदूर, कुंकुम
केहीं - किसी
दो०-१३ क्रियन्ह - काम
फल चारि - धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष (ये चार फल)
२६. जेवनार - भोज
परत - पड़ता था
अनूपा - निरुपम, अद्वितीय
गवन किय - चला
२७. पाय पखारे - पाँव धोया
जथाजोग - यथायोग्य, उचित
पीढ़न - पीढ़ों पर, आसन पर
२८. परन पनवारे - पत्ते या पत्तल भर भोजन परोसा जाने लगा
कनक कील मनि पान सँवारे - मणियों के पत्तों से सोने के कील देकर बनायी हुई पत्तलें पड़ने लगी ।
२९. पांच कौर करि - पांच प्राणाहुतियाँ देने के बाद
जेवन लागे - खाना शुरू किया
गारि - गाली, विवाह आदि के विशेष गीत
परे - पड़े
सरिस - समान

३०. आचमन - जल पीना
दो०-१४ पान - पानी
गवने - गये
सिरताज - सिरमौर, श्रेष्ठ
दो०-१५. कटाच्छ - कटाक्ष

३१. रजु - रज्जु, रस्सी
दो०-१७. सासु - सास
छं०-३ अहै - यही
जानबी - जानेंगे
मानबी - मानेंगे

सूरदास के पद

(१) [भक्त सूरदास परमात्मा का आश्रय छोड़ना नहीं चाहते। उसी में लीन होना चाहते हैं। उसके परम सान्निध्य से दूर जाना ही कौन चाहेगा? गंगा के पास रहकर भी पानी के लिए कुआँ कौन खोदेगा? घर में दुधारू गाय रखकर बकरी कौन दुहेगा?]

अनत - अन्यत्र, दूसरी जगह
छाँडि - छोड़कर
महातम - अज्ञानी
खनावै - खुदवाता है

चाख्यो - खाया, चखा
करील - एक पत्र-हीन पेड़
छेरी - बकरी
दुहावै - दुहेगा

(२) [कृष्ण चोरी करते पकड़े गये हैं। यशोदा कहती है—"कृष्ण, मैं तुम्हें भला समझती थी। पर तुम चोर निकले।" कृष्ण भोला बन कहते हैं—"माँ, तुम्हारी सौगंध! मैंने कुछ भी नहीं किया। लड़कों ने सब मक्खन खा लिया।" कृष्ण की बात सुनकर यशोदाने हँसकर उसे गले लगा लिया।)

धरि पाये - पकड़े गये
निसि-बासर - रात-दिन
चीन्ही - पहचाना
नेकु - ज़रा भी

चितै - देखना
रिस - क्रोध
गयी बुझाइ - शांत हुआ
उर लाइ - छाती से लगा लिया

(३) [कृष्ण ने माखन खा लिया; पर यशोदा से बहाना करने लगे।

बहाने-बाज़ी में नाराज़गी भी शामिल है। आखिर खीझकर यशोदा के सामने छड़ी व कंबल फेंक देते हैं।)

भोर - प्रातः काल, सबेरा
पाछे - पीछे
मोहिं पठायो - मुझे भेज दिया
साँझ - शाम
बहिअन - बाहु
छीको - सिकहर, सीका
बैर - शत्रु
पतियायो - विश्वास करती हो
परायो जायो जानि - दूसरे का बच्चा समझ कर
लकुट कमरिया - छड़ी और कंबल

(४) [बलराम बड़े नटखट हैं। बात बात पर कृष्ण की दिल्लगी किया करता है। कृष्ण बेचारा आकर यशोदा से शिकायत करता है।]

मोहि - मुझे
दाऊ - दादा, भैय्या
खिझायो - छेड़ा, तंग किया
मोसों - मुझ से
जायो - जन्म दिया
कत - क्यों
चबाई - चुगलखोर, झूठा
धृत - धूर्त, दग़ाबाज़
हौं - मैं

(५) [कृष्ण मधुपुरी चले गये हैं। वहाँ से माता को तो वे संदेश भेजते हैं। नंद पर वे सख़्त नाराज़ हैं। कहते हैं नंद ने जान-बूझकर हमें भेज दिया। खोज ख़बर कुछ भी नहीं ली।]

आवहिंगे - आयेंगे
हलधर - बलराम
बिखान - सींग से बना हुआ बाजा
सींगी - एक बाजा
कछुक - कुछ, ज़रा भी
धैया - ताज़ा दूध
बन्यो - बना
मोपै - मुझपर, मेरे कारण
जितो - जितना
जायो - पैदा हुआ, बेटा
कहा - बात
बहुरौ - फिर, पीछे
सोध - शोध, खोज-ख़बर

रहीम के दोहे

१. रहीम - दयालु
दीनबन्धु - दीनों पर दया रखनेवाला
२. प्रकृति - स्वभाव
का - क्या
व्यापत - फैलता है
३. अगुनी - बुरे गुणवाला
अगुन - दुर्गण, बुराई
पय - दूध
सहज - स्वभाव से
धरि - पकड़कर
४. बिगरी - बिगड़ी
किन - क्यों न
५. बावरी - पागल
कपाल - सिर
६. कितौ - कितने
पैग - कदम
तऊ - तब भी
बावनै - वामन, बौना
७. खोटै - बुरे, खोटे
जपु - जपते हैं
८. फाँके - टुकड़े, फाँक
९. गोय - गुप्त, रहस्य
अठिले हैं - मस्ती दिखाते हैं
१०. अघाय - तृप्त
११. बबूर - बबूल का पेड़
१२. * फरजी - शतरंज का एक मोहरा
साह - शाह, राजा
तासीर - प्रभाव, गुण
१३. *गोत - गोत्र, जाति
उछरत - उछलता है
१४. सोय - वही

* [शतरंज में फ़र्ज़ी टेढ़ी चाल चलती है। फिर भी वह राजा नहीं बन सकती है। लेकिन प्यादा जो है सीधे ही चलकर वज़ीर बन वजीर का काम करता है।]

*[प्रतीति यह है कि चंद्रमा के रथ में हिरण जुते हुए हैं। इसलिए हिरण ऊपर उछलता है। बराह-विष्णु भगवान ने बराह रूप धारण कर हिरण्याक्ष का वध किया और भूमि को ऊपर लाये। अर्थात् वंश और जाति के अनुसार गुण, कर्म और स्वभाव होते हैं।]

१५. [कर्मवीर को सोच - समझकर काम करना चाहिये जिससे एक पंथ दो काज हो जाय। जैसे हम मूल (जड़) को सींचते हैं तो फूल पत्ते तक जल पहुँच जाता है वैसे ही ऐसा काम करें जिससे अपना सब पुरुषार्थ सिद्ध हो जायँ।]

बिहारी

१. ओछे - नीच, वक्र

गैन - रास्ता

सतर - ऐंठकर

नैंक - थोड़ा, कुछ

[नीच ऐंठकर चलने मात्र से बड़ा नहीं बन सकता। फाड़ फाड़ कर देखने से छोटी आँखें दीर्घ (बड़ी) नहीं हो सकती हैं।]

२. तौ - तब भी

गनैं - गणना करते हैं

निकलंकु - निष्कलंक, कलंक रहित

उतपातु - नाश, बरबादी

मयंकु - चंद्र

[बुरे को भला काम करते देखकर लोग उलटे डरने लगते हैं। चंद्रको निष्कलंक होते देख जैसा समझा जाता है कि उत्पात होनेवाला है।]

३. जेती - जितनी

जितै - जिसे

तित - उसे

तेती - उतनी

४. सरत - निकलता है

मढ़्यो - मढ़ना

दमामा - भेरी

चाम - चमड़ा

६. ह्वैजै - होंगे

७. कौमुदी - चाँदनी

कितक - कितना, कहाँ

आरसी - आईना

ऊजरी - उजली

८. अनबूड़े - बिना डूबे

९. चंद्रिकनि-मोर-पंख में रहनेवाले चंद्रमा के आकार के चिन्ह

मनु - मानो

अकस - बैर, डाह

*[शिवजी के सिर पर चंद्रमा है। मगर एक ही। कृष्ण के सिर पर मोर पंख का जो किरीट है उस में अनेक चंद्रमा की तरह रहनेवाली रेखाएँ हैं। यह ऐसा है मानो शिव जी पर ईर्ष्या करके सैकड़ों चांद सिर पर लगा लिया हो।]

१०. *बितु - धन मोखु - मोक्ष
घरी में - घर में ही

*[धनके जाते जाते वैराग्य (संतोष) प्राप्त होना स्वाभाविक है। उसी वैराग्य-धन के आते आते घर ही में मोक्ष मिल जाता है।]

११. [हे हंस, इस नगर में तुम सँभल कर जाना। यहाँ कोयल को भगा कर कौए को पालते हैं। सज्जन को दुर्जन के बीच जाते सोचना चाहिए कि दुर्जन ही वहाँ पूजा जाता है न कि सज्जन।]

१२. *चटक - पक्का (रंग) राजस - क्रोध
मित्त - मित्रता नेह - स्नेह, तेल
रज - रजोगुण

*[जो चाहते हैं कि दोस्ती में मैल न लगे व रंग न बदले तो अपने मन को आलस्य व क्रोध से दूर रखें।]

१३. सिरजोई - पैदा
१४. *बरु - चाहे, भले ही

*[धन व पानी के बढ़ते बढ़ते मन और कमल बढ़ते ही जाते हैं घटते समय ये घटते नहीं; बल्कि समूल ही नष्ट हो जाते हैं।]